# मानवाधिकारों की समझ

## (UNDERSTANDING HUMAN RIGHTS)

बी.ए. (ऑनर्स) राजनीति विज्ञान

बी.ए. (प्रोग्राम) राजनीति विज्ञान

सेमेस्टर –VII

DISCIPLINE SPECIFIC ELECTIVE (DSE)

कोर्स क्रेडिट -4

As per the UGCF - 2022 and National Education Policy 2020

# READING NOTES

# विषय सूची


| क्र. सं. | शीर्षक | पृष्ठ नं. |
|---|---|---|
| **इकाई-I** | **मानवाधिकार : अर्थ और विकास** | 1-18 |
| | खंड A - मानवाधिकार: अर्थ और विकास<br>खंड B - प्राचीन भारतीय मानवाधिकारों की अवधारणा<br>खंड C - मानवाधिकारों की चार पीढ़ियाँ<br>खंड D - मानवाधिकार और नागरिकता अधिकार | |
| **इकाई-II** | **अंतर्राष्ट्रीय घोषणाएँ और समझौते** | 19-29 |
| | खंड A - मैग्ना कार्टा : अधिकारों की प्रारंभिक नींव<br>खंड B - संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र<br>खंड C - अंतर्राष्ट्रीय अनुबंध<br>खंड D - अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय और अधिकारों का प्रवर्तन | |
| **इकाई-III** | **भारत में मानवाधिकार** | 30-43 |
| | खंड A - मानवाधिकार और भारतीय संविधान<br>खंड B - भारत में मानवाधिकार, कानून और संस्थाएँ<br>खंड C - भारत में मानवाधिकार आंदोलन<br>खंड D - उपभोक्ता अधिकार : उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम और शिकायत निवारण तंत्र<br>खंड E - संश्लेषण और समकालीन प्रासंगिकता | |
| **इकाई-IV** | **मानवाधिकारों के लिए चुनौतियाँ** | 44-52 |
| | खंड A - वंचित समूहों के मानवाधिकार: दलित, आदिवासी, महिलाएं<br>खंड B - आदिवासी, किसान और असंगठित श्रमिक<br>खंड C - शरणार्थी और मानवीय जिम्मेदारियाँ<br>खंड D - आतंकवाद और मानवाधिकार<br>खंड E - संश्लेषण और शैक्षणिक चिंतन | |


**Printed at: Vikas Publishing House Pvt. Ltd. Plot 20/4, Site-IV, Industrial Area Sahibabad, Ghaziabad - 201 010 (2900 Copies) October 2026**

# खंड A - मानवाधिकार: अर्थ और विकास
# खंड B - प्राचीन भारतीय मानवाधिकारों की अवधारणा
# खंड C - मानवाधिकारों की चार पीढ़ियाँ
# खंड D - मानवाधिकार और नागरिकता अधिकार

## खंड A – मानवाधिकार : अर्थ और विकास

### A1. मानवाधिकारों का अर्थ

मानवाधिकारों की अवधारणा इस मान्यता से शुरू होती है कि प्रत्येक व्यक्ति में आत्मसम्मान की एक मूलभूत और अपरिवर्तनीय भावना होती है। आत्मसम्मान की यह भावना, जिसे अक्सर मानवीय गरिमा कहा जाता है, वह आधार बनती है जिस पर समाज निष्पक्ष व्यवहार और सामाजिक न्याय के सिद्धांतों का विकास करते हैं। विद्वानों ने इस विचार को विभिन्न तरीकों से परिभाषित करने का प्रयास किया है, लेकिन अधिकांश इस बात पर सहमत हैं कि मानवाधिकार कुछ मूलभूत दावे हैं जो सभी व्यक्ति मनुष्य होने के नाते कर सकते हैं। हॉफमैन और ग्राहम मानवाधिकारों को नैतिक तर्क पर आधारित और कानूनी एवं राजनीतिक संस्थाओं द्वारा समर्थित आधिकारिक दावे के रूप में वर्णित करते हैं जो व्यक्तियों को मनमानी शक्ति से बचाते हैं। (हॉफमैन और ग्राहम, 2006) उनके दृष्टिकोण से, मानवाधिकार मार्गदर्शक मानदंडों के रूप में कार्य करते हैं जो यह निर्धारित करते हैं कि राज्य अपने नागरिकों के साथ कैसे व्यवहार करता है। ये अधिकार उदारता या राज्य की परोपकारिता से उत्पन्न नहीं होते; बल्कि, वे प्रत्येक व्यक्ति में निहित गरिमा को दर्शाते हैं।

ओ'बर्न भी इसी तरह की समझ प्रस्तुत करते हैं, लेकिन अधिकारों के नैतिक आयाम पर अधिक बल देते हैं। उनका तर्क है कि मानव अधिकार इस बात पर नैतिक चिंतन से उत्पन्न होते हैं कि मानव होने का क्या अर्थ है– चिंतन करना, चुनाव करना, दूसरों के साथ रहना और समाज में सहभागिता करना। (ओ'बर्न, 2007) चूँकि मनुष्य में ये क्षमताएँ होती हैं, इसलिए उन्हें सार्थक रूप से इनका प्रयोग करने के लिए कुछ निश्चित परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, अधिकार केवल कानूनी अवधारणाएँ नहीं हैं, बल्कि किसी समुदाय द्वारा धारण किए गए मूल्यों की नैतिक अभिव्यक्ति भी हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि मानव अधिकारों को अक्सर सार्वभौमिक क्यों कहा जाता है। वे राष्ट्रीयता, धर्म या सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर निर्भर नहीं करते। बल्कि, वे इस सामान्य समझ पर आधारित हैं कि प्रत्येक व्यक्ति गरिमापूर्ण और उद्देश्यपूर्ण जीवन जीने की स्वतंत्रता का हकदार है। त्रिपाठी (2019), प्रियम बैनर्जी और मेनन (2009), और मोतीलाल और नंदा (2006) जैसे विद्वान आगे बताते हैं कि मानवाधिकारों का अर्थ लंबी ऐतिहासिक और बौद्धिक प्रक्रियाओं के माध्यम से विकसित हुआ है। वे मानवाधिकारों को प्राकृतिक अधिकारों और कानूनी अधिकारों से अलग करते हैं। प्राकृतिक अधिकार मानवीय तर्क, दैवीय न्याय या प्राकृतिक व्यवस्था की अवधारणाओं से उत्पन्न नैतिक दावों को संदर्भित करते हैं। इसके विपरीत, कानूनी अधिकार न्यायालयों और विधायिकाओं जैसी औपचारिक संस्थाओं द्वारा प्रदान और लागू किए जाते हैं। मानवाधिकार इन दोनों श्रेणियों के बीच एक अद्वितीय स्थान रखते हैं। वे गरिमा के बारे में

नैतिक मानदंडों को कानूनी सुरक्षा के साथ जोड़ते हैं जो इन मानदंडों को लागू करने योग्य बनाते हैं। मानवाधिकार नैतिक आदर्शों और व्यक्तियों को अन्याय से बचाने के लिए व्यावहारिक उपकरणों दोनों के रूप में कार्य करते हैं।

यह अंतर छात्रों को यह समझने में मदद करता है कि समकालीन राजनीति में मानवाधिकारों का विशेष महत्व क्यों है। आधुनिक राज्य तेजी से यह स्वीकार कर रहे हैं कि सरकार की वैधता उसके नागरिकों की गरिमा और स्वतंत्रता की रक्षा करने की उसकी तत्परता से जुड़ी है। जब किसी संविधान या कानूनी ढाँचे में मानवाधिकारों को शामिल किया जाता है, तो यह संकेत देता है कि राज्य अपनी शक्ति पर सीमाएँ स्वीकार करता है। यह उन तंत्रों को भी स्थापित करता है जिनके माध्यम से व्यक्ति शासकीय अधिकारियों को जवाबदेह ठहरा सकते हैं।

मानवाधिकारों की दार्शनिक जड़ें जॉन लॉक और इमैनुअल कांट जैसे शास्त्रीय विचारकों में पाई जा सकती हैं। लॉक का तर्क था कि व्यक्तियों को जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति के जन्मजात अधिकार प्राप्त हैं, और सरकारें मुख्य रूप से इन अधिकारों की रक्षा के लिए अस्तित्व में हैं। कांट का योगदान यह विचार था कि व्यक्तियों को हमेशा स्वयं में एक लक्ष्य के रूप में माना जाना चाहिए, न कि केवल सामूहिक या राजनीतिक लक्ष्यों के साधन के रूप में। इन विचारों ने बाद की संवैधानिक परंपराओं और अंतर्राष्ट्रीय अधिकार ढाँचों को गहराई से प्रभावित किया। हॉफमैन और ग्राहम का कहना है कि इन दार्शनिक आधारों ने समकालीन इस विश्वास को आकार देने में मदद की कि अधिकार सार्वभौमिक रूप से लागू होने चाहिए और किसी विशेष सांस्कृतिक या राष्ट्रीय समूह की सदस्यता पर पूरी तरह निर्भर नहीं हो सकते। (हॉफमैन और ग्राहम, 2006) मानवाधिकारों की वैश्विक समझ में एक महत्वपूर्ण मोड़ 1948 में मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा को अपनाने के साथ आया। ओ'बर्न और प्रियम जैसे विद्वान इस घोषणा को एक मील का पत्थर मानते हैं जिसने विभिन्न बौद्धिक परंपराओं को एक साझा वैश्विक भाषा में समेकित किया। यद्यपि देश अपने-अपने संविधान और राजनीतिक प्राथमिकताओं को बनाए रखते हैं, फिर भी इस घोषणा ने सिद्धांतों की एक आधारभूत रूपरेखा स्थापित की जिसका उपयोग आज कई समाज मानव कल्याण के प्रति अपनी प्रतिबद्धताओं को परिभाषित करने के लिए करते हैं। इसने पुराने दार्शनिक वाद-विवादों को एक व्यावहारिक ढाँचे में रूपांतरित किया जो कानून, नीति और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का मार्गदर्शन करता है।

हालाँकि, मानवाधिकारों का अर्थ केवल वैश्विक सम्मेलनों या दार्शनिक ग्रंथों के माध्यम से नहीं समझा जा सकता है। यह सांस्कृतिक अनुभवों और ऐतिहासिक विकासों से भी आकार लेता है। उदाहरण के लिए, भारत में कई परंपराओं ने अधिकारों की आधुनिक भाषा के आम होने से बहुत पहले गरिमा, करुणा और निष्पक्षता जैसे मूल्यों पर जोर दिया। इन शुरुआती विचारों ने अधिकारों को सख्ती से व्यक्तिवादी शब्दों में परिभाषित नहीं किया, लेकिन उन्होंने यह स्वीकार किया कि न्याय और सामाजिक कल्याण को बनाए रखने के लिए कुछ प्रकार के आचरण आवश्यक थे। इस परिप्रेक्ष्य पर आधारित, हरगोपाल बताते हैं कि अधिकारों के विचार को समाजों की बदलती जरूरतों के संबंध में समझा जाना चाहिए। जैसे-जैसे असमानता या भेद्यता के नए रूप उभरे हैं, समाजों ने इस बात की अपनी। समझ का विस्तार किया है कि क्या संरक्षित किया जाना चाहिए। यह गतिशील प्रक्रिया दर्शाती है कि मानवाधिकार निश्चित नियम नहीं हैं बल्कि विकसित सिद्धांत हैं जो मानवीय अनुभवों का जवाब देते हैं।

समकालीन विद्वान इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि मानवाधिकारों का विस्तार व्यापक सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों को दर्शाता है। त्रिपाठी (2019) बताते हैं कि पर्यावरणीय क्षति, विस्थापन, लैंगिक भेदभाव और डिजिटल कमज़ोरियों जैसे मुद्दों ने गरिमा की आधुनिक अपेक्षाओं को नया आकार दिया है। जैसे-जैसे समाज नए जोखिमों का

सामना करते हैं, मानवाधिकारों का अर्थ अनिवार्य रूप से व्यापक होता जाता है। शिक्षा का अधिकार, स्वच्छ पर्यावरण का अधिकार, या सूचना तक पहुँच का अधिकार जैसी उभरती अवधारणाएँ दर्शाती हैं कि असुरक्षा के नए रूपों के लिए सुरक्षा के नए रूपों की आवश्यकता कैसे होती है। मोतीलाल और नंदा (2006) भी इसी तरह बताते हैं कि सामाजिक परिवर्तन लगातार उन सीमाओं को नया आकार देता है जिनकी व्यक्तियों को गरिमापूर्ण जीवन जीने के लिए आवश्यकता होती है। हरगोपाल कहते हैं कि मानवाधिकारों को उन ऐतिहासिक परिस्थितियों से अलग नहीं किया जा सकता है जो उन्हें जन्म देती हैं (हरगोपाल, 1997)। औद्योगीकरण, लोकतंत्रीकरण, वैश्वीकरण और तकनीकी परिवर्तन ने भेद्यता के नए रूप पेश किए हैं। इन विकासों ने समाजों को अधिकारों की पिछली परिभाषाओं पर पुनर्विचार करने और उन्हें समकालीन वास्तविकताओं के अनुरूप ढालने के लिए मजबूर किया है। इस अर्थ में, मानवाधिकार स्थिर सिद्धांत नहीं हैं बल्कि मानवीय आवश्यकताओं द्वारा आकारित विकसित प्रथाएँ हैं।

उपेंद्र बक्शी यह तर्क देकर एक और आयाम प्रदान करते हैं कि मानवाधिकारों को केवल कानूनी सिद्धांतों के रूप में नहीं, बल्कि सामूहिक कल्पना से प्रेरित नैतिक और राजनीतिक परियोजनाओं के रूप में भी देखा जाना चाहिए। (बक्शी, 2002) उनका विश्लेषण इस बात पर प्रकाश डालता है कि केवल कानून ही अधिकारों के पूर्ण अर्थ को परिभाषित नहीं कर सकते। सामाजिक आंदोलन, नैतिक बहसें और सामुदायिक मूल्य इस बात को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं कि समाज मानवाधिकारों को कैसे व्यक्त और प्राथमिकता देते हैं। बक्शी का दृष्टिकोण इस बात को रेखांकित करने में मदद करता है कि अधिकार न केवल संस्थानों द्वारा, बल्कि पीढ़ियों से साझा की जाने वाली नैतिक प्रतिबद्धताओं द्वारा भी कायम रहते हैं।

कुल मिलाकर, ये विद्वतापूर्ण अंतर्दृष्टि दर्शाती हैं कि मानवाधिकार नैतिक दर्शन, ऐतिहासिक अनुभव, सांस्कृतिक परंपराओं और संस्थागत विकास के अंतर्संबंध से उत्पन्न होते हैं। वे इस विश्वास को व्यक्त करते हैं कि व्यक्तियों को निष्पक्ष व्यवहार और समान सम्मान मिलना चाहिए, लेकिन वे उन व्यावहारिक तंत्रों को भी दर्शाते हैं जिनके माध्यम से समाज इन प्रतिबद्धताओं को लागू करते हैं। मानवाधिकार मानवीय गरिमा के बारे में सार्वभौमिक विचारों पर आधारित रहते हैं, फिर भी वे संस्कृतियों, राजनीतिक प्रणालियों और सामाजिक आंदोलनों के बीच संवाद के माध्यम से विकसित होते हैं। इस जटिलता को समझने से छात्रों को यह समझने में मदद मिलती है कि मानवाधिकार स्थिर सिद्धांत और मानवीय आवश्यकताओं के लिए विकसित प्रतिक्रियाएँ दोनों हैं। इन विचारों से जुड़कर, शिक्षार्थी इस बात पर स्पष्टता प्राप्त करते हैं कि न्याय, निष्पक्षता और गरिमा की धारणाओं को इतिहास के विभिन्न कालखंडों में कैसे आकार दिया गया है, उनका बचाव किया गया है और उनकी पुनर्कल्पना की गई है।

### A2. मानवाधिकारों का विकास

मानवाधिकारों का विकास एक लंबी ऐतिहासिक यात्रा है जो विविध सांस्कृतिक परंपराओं, बौद्धिक विकास, सामाजिक संघर्षों और राजनीतिक परिवर्तनों से प्रभावित है। यद्यपि मानवाधिकारों की आधुनिक शब्दावली अपेक्षाकृत नई प्रतीत होती है, लेकिन इसके अंतर्निहित नैतिक आवेग प्राचीन सभ्यताओं तक फैले हुए हैं। विद्वानों का कहना है कि जिन्हें हम आज मानवाधिकार कहते हैं, वे किसी एक क्षण में अचानक प्रकट नहीं हुए बल्कि, न्याय, अधिकार, गरिमा और समुदायों के भीतर व्यक्तियों की जिम्मेदारियों के बारे में बदलते विचारों के माध्यम से इनका धीरे-धीरे विकास हुआ। इसलिए मानवाधिकारों के इतिहास को एक स्तरित वृत्तांत के रूप में सबसे अच्छी तरह समझा जा सकता है जिसमें प्रत्येक युग ने पूर्व की अवधारणाओं को नया रूप देते हुए नई अंतर्दृष्टि जोड़ी। (त्रिपाठी (2019), बनर्जी और मेनन (2009),

मोतीलाल और नंदा (2006), और ओ'बर्न (2007)) ये सभी मिलकर दिखाते हैं कि यह विकास किस प्रकार मानव समाजों की निष्पक्षता और मानवीय मूल्य के सवालों से जूझने की व्यापक कहानी को प्रतिबिंबित करता है।

प्रारंभिक नैतिक और नीतिशास्त्रीय प्रणालियों ने बाद में अधिकारों के बारे में विचार करने के लिए सांस्कृतिक नींव रखी। कई प्राचीन परंपराओं में व्यक्तिगत अधिकारों पर नहीं, बल्कि नैतिक कर्तव्यों, सामुदायिक सद्भाव और न्यायपूर्ण आचरण पर ज़ोर दिया गया था। इन प्रारंभिक विचारों में यह मान्यता थी कि समाज तभी शांतिपूर्वक कार्य कर सकता है जब व्यक्तियों के साथ बुनियादी स्तर का सम्मानपूर्ण व्यवहार किया जाए। उदाहरण के लिए, प्राचीन भारतीय चिंतन में अधिकारों की भाषा प्रचलित होने से बहुत पहले ही गरिमा, करुणा और नैतिक उत्तरदायित्व के सिद्धांतों को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया था। इसी प्रकार, चीन, फारस और मध्य पूर्व की परंपराओं में न्यायपूर्ण शासन, नैतिक संयम और सामाजिक संतुलन जैसे विचारों को प्रमुखता दी गई। यद्यपि इन विचारों में आधुनिक अधिकारों को औपचारिक रूप से परिभाषित नहीं किया गया था, फिर भी इन्होंने मानव कल्याण के बारे में स्थायी अंतर्दृष्टि प्रदान की। इन्होंने यह माना कि शक्ति की सीमाएँ आवश्यक हैं और शासकों का यह दायित्व है कि वे निष्पक्षता बनाए रखने वाले तरीके से कार्य करें। इन प्रारंभिक नैतिक सिद्धांतों ने एक आवश्यक नैतिक पृष्ठभूमि प्रदान की जिस पर बाद में राजनीतिक सिद्धांतों का विकास हुआ।

ग्रीक और रोमन दर्शन ने प्राकृतिक कानून के प्रारंभिक स्वरूपों को प्रस्तुत करके अधिकारों के बौद्धिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण कदम रखा। अरस्तू और स्टोइक जैसे ग्रीक दार्शनिकों ने सुझाव दिया कि एक सार्वभौमिक व्यवस्था मानव जीवन को नियंत्रित करती है और सभी व्यक्तियों में तर्क करने की मूलभूत क्षमताएँ होती हैं। इन विचारों ने इस संभावना पर चिंतन को प्रोत्साहित किया कि न्याय के मानदंड सभी लोगों पर लागू हो सकते हैं, चाहे वे किसी भी नगर-राज्य या सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के हों। यद्यपि ग्रीक समाज समतावादी नहीं थे और अक्सर भागीदारी को कुछ समूहों तक ही सीमित रखते थे, फिर भी उनके दार्शनिक योगदान ने नैतिक सार्वभौमिकता की व्यापक समझ विकसित करने में मदद की। रोमन विचारकों ने 'जस नैचुरेल' की अवधारणा को स्पष्ट करके इन विचारों को और विकसित किया, यह विश्वास कि कुछ मूलभूत सिद्धांत मानव स्वभाव में अंतर्निहित हैं। रोमन कानून ने नागरिकता, निष्पक्षता और कानूनी व्यवस्था के तहत व्यक्तियों के अधिकारों के बारे में बाद के विचारों को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। संहिताबद्ध कानून और कुछ कानूनी स्थितियों के संरक्षण पर रोमन जोर ने एक संस्थागत ढाँचा तैयार किया जिसने सदियों तक पश्चिमी कानूनी परंपराओं को प्रभावित किया।

मध्ययुग ने धार्मिक शिक्षाओं और दार्शनिक तर्कों के मिश्रण से अधिकारों के विकास में कई नए आयाम जोड़े। यूरोप में, ईसाई विचारकों के प्रभाव से प्राकृतिक कानून सिद्धांत का विस्तार हुआ, जिन्होंने तर्क दिया कि मनुष्य नैतिक रूप से मूल्यवान होते हैं क्योंकि वे तर्कसंगत क्षमताओं और नैतिक जिम्मेदारी के साथ पैदा हुए हैं। यद्यपि मध्ययुगीन समाजों में कठोर सामाजिक पदानुक्रम कायम थे, फिर भी यह विचार प्रबल हुआ कि सत्ता को नैतिक कानून के अनुरूप होना चाहिए। 1215 के मैग्ना कार्टा को अक्सर एक महत्वपूर्ण विकास के रूप में उद्धृत किया जाता है क्योंकि इसमें यह कहा गया था कि सम्राट भी कुछ कानूनी सीमाओं से बंधे होते हैं। यद्यपि इसके प्रावधान केवल विशिष्ट समूहों पर लागू होते थे, फिर भी इसका प्रभाव इस सिद्धांत में निहित था कि सत्ता को मान्यता प्राप्त सीमाओं के भीतर ही कार्य करना चाहिए। यूरोप के बाहर, इसी तरह के विचार इस्लामी न्यायशास्त्र में दिखाई दिए, जिसने न्याय, संपत्ति की सुरक्षा और समुदाय के भीतर निष्पक्ष व्यवहार पर जोर दिया। विभिन्न क्षेत्रों में, नैतिक सिद्धांतों ने इस बात पर बल दिया कि शासक जवाबदेह

होते हैं और व्यक्तियों को कुछ सुरक्षा प्राप्त करने का अधिकार होता है, भले ही ये सुरक्षा उपाय आधुनिक मानवाधिकारों से भिन्न थे।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के प्रबोधन काल ने अधिकारों के विकास में एक निर्णायक परिवर्तन लाया। प्रबोधन काल के विचारकों ने नैतिक कर्तव्यों और धार्मिक शिक्षाओं से हटकर व्यक्तियों की तर्कसंगत क्षमताओं पर ध्यान केंद्रित किया। जॉन लॉक जैसे दार्शनिकों ने तर्क दिया कि मनुष्य को जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति के जन्मजात अधिकार प्राप्त हैं, और सरकारें मुख्य रूप से इन अधिकारों की रक्षा के लिए अस्तित्व में हैं। लॉक के विचारों ने निरंकुश राजशाही की धारणा को चुनौती दी और सहमति पर आधारित राजनीतिक सत्ता के लिए नैतिक औचित्य प्रदान किया। प्रबोधन काल के विचारों ने सार्वभौमिक गरिमा की अवधारणा को आकार देने में भी केंद्रीय भूमिका निभाई। मोंटेस्क्यू, रूसो और कांट जैसे लेखकों ने सभी व्यक्तियों के समान नैतिक मूल्य और इस विश्वास के आधार पर राजनीतिक संस्थाओं की संरचना की आवश्यकता के बारे में तर्क विकसित किए। इन तर्कों ने आधुनिक संवैधानिकवाद को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया और इस विचार को स्थापित करने में मदद की कि अधिकार कुछ लोगों के विशेषाधिकार नहीं बल्कि सभी मनुष्यों के हक हैं।

अठारहवीं शताब्दी की क्रांतियों ने ज्ञानोदय के सिद्धांतों की ठोस अभिव्यक्ति प्रदान की। अमेरिकी स्वतंत्रता घोषणापत्र और फ्रांसीसी मानवाधिकार एवं नागरिक अधिकार घोषणापत्र ने समानता, स्वतंत्रता और जनसंप्रभुता के विचारों को अभिव्यक्त किया। यद्यपि इन आंदोलनों की कुछ सीमाएँ थीं और अक्सर इनमें कई समूहों को शामिल नहीं किया गया, फिर भी वैश्विक राजनीतिक चिंतन पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा। इन्होंने यह प्रदर्शित किया कि अधिकार राष्ट्रीय पहचान, राजनीतिक वैधता और कानूनी प्रणालियों का आधार बन सकते हैं। प्रियम बैनर्जी (2009) जैसे विद्वान ध्यान देते हैं कि इन विकासों ने मानवाधिकारों को दार्शनिक आदर्शों से राजनीतिक मांगों में परिवर्तित कर दिया, जो राज्य संरचनाओं को नया रूप देने में सक्षम थीं। इस प्रकार ज्ञानोदय अधिकारों के ऐतिहासिक विकास में एक महत्वपूर्ण चरण का प्रतिनिधित्व करता है, क्योंकि इसने सार्वभौमिक गरिमा के विचारों को आधुनिक नागरिकता की दृष्टि से एकीकृत किया।

उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में लोकतांत्रिक संस्थाओं, श्रमिक आंदोलनों और उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्षों के विकास के माध्यम से अधिकारों की अवधारणा का विस्तार हुआ। साक्षरता में वृद्धि, औद्योगीकरण और राजनीतिक भागीदारी के नए रूपों ने व्यापक सुरक्षा की माँग को प्रोत्साहित किया। सामाजिक सुधारकों का तर्क था कि यदि व्यक्तियों के पास आर्थिक सुरक्षा न हो तो केवल राजनीतिक स्वतंत्रताएँ ही पर्याप्त नहीं हैं। श्रमिकों, महिलाओं और हाशिए पर पड़े समूहों के अधिकारों पर प्रारंभिक चर्चाओं ने धीरे-धीरे अधिकारों के दायरे को विस्तृत किया। इन विकासों ने मानवीय गरिमा की अधिक समावेशी समझ के लिए आधार तैयार किया, एक ऐसी समझ जिसने मानव कल्याण को आकार देने में राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक दोनों स्थितियों के महत्व को मान्यता दी।

द्वितीय विश्व युद्ध की तबाही के बाद सबसे व्यापक परिवर्तन हुआ। इस संघर्ष से उत्पन्न वैश्विक आघात और सत्तावादी शासनों से जुड़े अत्याचारों ने एक साझा नैतिक और राजनीतिक ढाँचे की आवश्यकता के प्रति तात्कालिकता की भावना पैदा की। 1948 में, संयुक्त राष्ट्र ने मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा को अपनाया, जो समकालीन मानवाधिकार विमर्श का आधार बन गई। ओ'बर्न , मोतीलाल और नंदा जैसे विद्वान इस घोषणा को एक ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में वर्णित करते हैं। सार्वभौमिक नैतिक सिद्धांतों को सुलभ और विश्व स्तर पर स्वीकृत मानदंडों के एक समूह में अनुवादित करता है। घोषणा ने पुष्टि की कि सभी मनुष्यों में राष्ट्रीयता, धर्म या विचारधारा की परवाह किए बिना अंतर्निहित गरिमा

और अधिकार होते हैं। हालाँकि यह कानूनी रूप से बाध्यकारी नहीं है, इसने दुनिया भर में बाद की संधियों, संविधानों और कानूनी सुधारों को बहुत प्रभावित किया। युद्ध के बाद मानवाधिकारों के विस्तार ने राजनीतिक और सांस्कृतिक मतभेदों के बावजूद, साझा वैश्विक प्रतिबद्धता के एक क्षण का प्रतिनिधित्व किया।

इसके बाद शुरू हुए शीत युद्ध ने वैश्विक प्राथमिकताओं को अलग-अलग वैचारिक दृष्टियों में विभाजित करके अधिकारों के विकास में एक नया चरण ला दिया। पश्चिमी देशों ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, संगठन बनाने की स्वतंत्रता और शासन में भागीदारी के अधिकार जैसे नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर ज़ोर दिया। समाजवादी राज्यों ने आर्थिक और सामाजिक अधिकारों को प्रमुखता दी और तर्क दिया कि गरिमा के लिए रोज़गार, शिक्षा और बुनियादी कल्याण तक पहुँच भी आवश्यक है। प्रियम बैनर्जी का कहना है कि इस वैचारिक विभाजन ने कई दशकों तक वैश्विक बहसों को प्रभावित किया। इन मतभेदों के बावजूद, अंततः अधिकारों के इन दोनों समूहों को परस्पर विरोधी के बजाय पूरक के रूप में मान्यता दी गई। 1966 में नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय संधि और आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय संधि को अपनाने से यह समझ विकसित हुई कि मानवीय गरिमा के लिए कई प्रकार की सुरक्षा आवश्यक है। इसलिए शीत युद्ध की गतिशीलता ने मानवाधिकारों के दायरे को संकुचित करने के बजाय विस्तारित करने में योगदान दिया।

1990 के दशक के आरंभ में शीत युद्ध की समाप्ति के बाद, वैश्वीकरण, तकनीकी परिवर्तन और पर्यावरणीय चुनौतियों ने मानव समाजों को नया आकार दिया, जिससे मानवाधिकारों का अर्थ और अधिक व्यापक हो गया। त्रिपाठी (2019) बताते हैं कि पर्यावरणीय गिरावट, जबरन विस्थापन, जलवायु परिवर्तन की चपेट में आना और डिजिटल निगरानी जैसी चिंताओं ने गरिमा से संबंधित चर्चाओं को नए आयाम दिए। विश्वभर में आंदोलनों ने विकास के अधिकार, स्वदेशी समुदायों के अधिकार और पर्यावरण संरक्षण से जुड़े अधिकारों को मुखर करना शुरू किया। विकास संबंधी चर्चा ने इस बात पर जोर दिया कि बुनियादी सामाजिक-आर्थिक अवसरों के बिना व्यक्ति पूरी तरह से राजनीतिक स्वतंत्रता का आनंद नहीं ले सकते। मोतीलाल और नंदा (2006) भी इसी प्रकार इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि सूचना प्रौद्योगिकी की ओर वैश्विक बदलाव ने गोपनीयता, सूचना तक पहुँच और डिजिटल उपकरणों के नैतिक उपयोग से संबंधित नई कमजोरियों को जन्म दिया। परिणामस्वरूप, मानवाधिकार ढाँचे साइबर सुरक्षा, आनुवंशिक प्रौद्योगिकी और कृत्रिम बुद्धिमत्ता के नियमन जैसे मुद्दों को संबोधित करने के लिए तेजी से अनुकूलित होने लगे।

वैश्विक जीवन की बदलती परिस्थितियों से मानवाधिकारों का विकास लगातार प्रभावित हो रहा है। जैसे-जैसे समाज अधिक परस्पर जुड़े होते जा रहे हैं, सांस्कृतिक पहचान, प्रवासन, पर्यावरणीय स्थिरता और तकनीकी नैतिकता जैसे मुद्दे इस बात को प्रभावित करते हैं कि अधिकारों की व्याख्या और रक्षा कैसे की जाती है। साथ ही, कई क्षेत्र अपने सामाजिक संदर्भों में सार्थक तरीके से अधिकारों को व्यक्त करने के लिए अपनी सांस्कृतिक परंपराओं का सहारा लेते हैं। इसलिए मानवाधिकारों का ऐतिहासिक विकास केवल एक रैखिक प्रगति नहीं है, बल्कि एक गतिशील प्रक्रिया है जिसमें नई चुनौतियाँ नई समझ को जन्म देती हैं। यह निरंतर विकास इस व्यापक मान्यता को दर्शाता है कि व्यक्तियों की गरिमा आर्थिक प्रणालियों, राजनीतिक संरचनाओं, सांस्कृतिक मानदंडों और तकनीकी नवाचारों से प्रभावित हो सकती है।

प्रत्येक ऐतिहासिक चरण में—प्राचीन नैतिकता, शास्त्रीय प्राकृतिक कानून, प्रबुद्धता दर्शन, आधुनिक संवैधानिकवाद, युद्धोत्तर सार्वभौमिकता, शीत युद्ध की बहसें और समकालीन वैश्विक विकास—मूल विचार सुसंगत रहता है: मनुष्य सम्मान और निष्पक्षता के साथ व्यवहार किए जाने के योग्य हैं। इस विचार को व्यक्त करने वाली शब्दावली बदल सकती

है, लेकिन इसकी नैतिक नींव इस विश्वास में निहित रहती है कि मानवीय गरिमा अंतर्निहित है। त्रिपाठी, प्रियम एट अल., मोतीलाल और नंदा, और ओ'बर्न जैसे विद्वान सामूहिक रूप से दिखाते हैं कि मानवाधिकार सांस्कृतिक अनुभवों, बौद्धिक बहसों और संस्थागत विकासों से विकसित हुए हैं जो आज भी राजनीतिक जीवन को आकार देते हैं। इसलिए मानवाधिकारों का विकास निरंतरता और परिवर्तन दोनों को दर्शाता है। यह व्यक्तियों के लिए गरिमापूर्ण और सार्थक जीवन जीने के लिए आवश्यक स्थितियों को परिभाषित करने, उनकी रक्षा करने और उनका विस्तार करने के मानवता के निरंतर प्रयास को प्रदर्शित करता है।

### A3. अधिकारों का समकालीन विस्तार

मानवाधिकार विकास का समकालीन चरण अपने दायरे और अर्थ दोनों में निरंतर विस्तार से चिह्नित है। यह विस्तार आधुनिक समाजों की बदलती परिस्थितियों, असुरक्षा के नए रूपों के उदय और पिछली शताब्दियों में कल्पना की गई परिस्थितियों की तुलना में कहीं अधिक जटिल परिवेश में मानवीय गरिमा को सुरक्षित करने के निरंतर प्रयासों को दर्शाता है। जबकि अधिकारों पर चर्चा के प्रारंभिक चरण मुख्य रूप से नागरिक और राजनीतिक स्वतंत्रता पर केंद्रित थे, वहीं बीसवीं और इक्कीसवीं शताब्दियों के उत्तरार्ध में व्यक्तियों और समुदायों को सुरक्षा और आत्मसम्मान के साथ जीने के लिए आवश्यक चीज़ों की व्यापक समझ विकसित हुई। त्रिपाठी (2019), प्रियम, बनर्जी और मेनन (2009), मोतीलाल और नंदा (2006) और ओ'बर्न (2007) जैसे विद्वान दर्शाते हैं कि यह विकास अधिकारों के मूल विचार से विचलन नहीं है, बल्कि इसका एक स्वाभाविक विस्तार है। प्रत्येक नई पीढ़ी को सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और तकनीकी चुनौतियों का सामना करना पड़ा है, जो इस बात पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य करती हैं कि किन चीज़ों की रक्षा की जानी चाहिए। इस प्रकार समकालीन अधिकार तेजी से बदलती दुनिया में मानवीय आवश्यकताओं के प्रति समाज के निरंतर प्रयासों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस कालखंड में एक महत्वपूर्ण विकास सामाजिक और आर्थिक अधिकारों का सुदृढ़ीकरण है। ये अधिकार इस मान्यता से उभरे कि केवल राजनीतिक स्वतंत्रता का आनंद लेना ही गरिमापूर्ण जीवन के लिए आवश्यक परिस्थितियों की गारंटी नहीं देता। त्रिपाठी (2019) बताते हैं कि शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा, पोषण, आवास और बुनियादी आजीविका सुरक्षा जैसे मुद्दे अधिकारों के विमर्श के केंद्र में आ गए, क्योंकि देशों को गरीबी, असमानता और असमान विकास का सामना करना पड़ा। बीसवीं शताब्दी के मध्य में कल्याणकारी राज्यों की स्थापना के बाद और बाद में अधिकारों की अविभाज्यता पर जोर देने वाले अंतर्राष्ट्रीय दस्तावेजों के माध्यम से इन अधिकारों को अधिक प्रमुखता मिली। मूल विचार यह है कि न्यूनतम सामाजिक सुरक्षा के अभाव में व्यक्ति अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सार्थक प्रयोग नहीं कर सकते, सार्वजनिक जीवन में भाग नहीं ले सकते या न्याय प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए सामाजिक अधिकार गरिमा की अवधारणा को औपचारिक स्वतंत्रताओं से परे विस्तारित करते हैं और इसे लोगों द्वारा प्राप्त किए जा सकने वाले जीवन की गुणवत्ता से जोड़ते हैं। यह परिवर्तन विशेष रूप से आर्थिक संक्रमण से गुजर रहे समाजों में महत्वपूर्ण है, जहाँ बेरोजगारी, अनौपचारिक कार्य या सार्वजनिक सेवाओं तक सीमित पहुँच से जुड़े जोखिम व्यक्तिगत स्वायत्तता को गंभीर रूप से प्रतिबंधित कर सकते हैं।

समकालीन अधिकारों का एक संबंधित आयाम समूह-आधारित दावों की मान्यता है। मोतीलाल और नंदा (2006) का कहना है कि आधुनिक समाजों में विविध सांस्कृतिक, जातीय, भाषाई और धार्मिक समुदाय मौजूद हैं, जिनमें से प्रत्येक को समावेशन या हाशिए पर धकेले जाने के विशिष्ट अनुभव होते हैं। जबकि पहले के अधिकार ढाँचे व्यक्ति को प्राथमिक

अधिकार धारक मानते थे, समकालीन काल यह स्वीकार करता है कि कुछ समुदायों को अपनी पहचान बनाए रखने और समाज में समान रूप से भाग लेने के लिए अतिरिक्त सुरक्षा की आवश्यकता होती है। इन समूह अधिकारों में सांस्कृतिक स्वायत्तता, भाषा संरक्षण और सार्वजनिक संस्थानों में अल्पसंख्यक भागीदारी के लिए सुरक्षा उपाय शामिल हैं। ओ'बर्न (2007) बताते हैं कि ऐसे अधिकार आंशिक रूप से इसलिए उभरे क्योंकि उदार लोकतांत्रिक प्रणालियाँ कभी-कभी विशिष्ट समूहों के सदस्यों के रूप में व्यक्तियों द्वारा सामना किए जाने वाले भेदभाव के सामूहिक अनुभवों को संबोधित करने में संघर्ष करती थीं। इसलिए समूह अधिकार यह सुनिश्चित करने का प्रयास है कि मानवीय गरिमा न केवल व्यक्तिगत स्तर पर बल्कि उन समुदायों के स्तर पर भी सुरक्षित रहे जिनकी जीवनशैली को मान्यता और समर्थन की आवश्यकता है।

समकालीन विस्तार का एक और महत्वपूर्ण पहलू विकास अधिकारों का विचार है। ये अधिकार बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रमुखता प्राप्त कर गए, विशेष रूप से संयुक्त राष्ट्र के भीतर और अधिक न्यायसंगत वैश्विक व्यवस्था की माँग करने वाले विकासशील देशों के बीच हुई चर्चाओं के माध्यम से। प्रियम, बनर्जी और मेनन (2009) बताते हैं कि विकास अधिकार असमानता के संरचनात्मक आयामों को संबोधित करते हैं, जैसे संसाधनों तक असमान पहुँच, वैश्विक आर्थिक असमानताएँ और तकनीकी एवं औद्योगिक विकास से मिलने वाले असमान लाभ। इसका मूल आधार यह है कि यदि व्यक्ति और समुदाय निरंतर अभाव की स्थिति में फंसे रहते हैं, तो वे अपनी पूरी क्षमता का एहसास नहीं कर सकते। इसलिए विकास के अधिकार में राष्ट्रीय जिम्मेदारियां, जैसे समावेशी विकास और सामाजिक कल्याण सुनिश्चित करना, और अंतर्राष्ट्रीय जिम्मेदारियां, जैसे निष्पक्ष व्यापार संबंध और वैश्विक गरीबी को दूर करने में सहयोग, दोनों शामिल हैं। यह ढाँचा इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करता है कि मानवाधिकार न केवल घरेलू राजनीति से बल्कि वैश्विक आर्थिक व्यवस्थाओं से भी प्रभावित होते हैं जो संपूर्ण आबादी की संभावनाओं को प्रभावित करती हैं।

इक्कीसवीं सदी में तकनीकी प्रगति ने निजता, डेटा सुरक्षा और डिजिटल स्वायत्तता से संबंधित नई चिंताओं को जन्म दिया है। जैसे-जैसे समाज संचार, वाणिज्य और शासन के लिए डिजिटल प्लेटफार्मों पर अधिकाधिक निर्भर होते जा रहे हैं, पहुँच, निगरानी और सूचना सुरक्षा से संबंधित प्रश्न अधिकारों पर चर्चा का केंद्र बन गए हैं। त्रिपाठी (2019) बताते हैं कि ये चिंताएँ इस मान्यता से उत्पन्न होती हैं कि डिजिटल स्थान अब रोजमर्रा की जिंदगी का अभिन्न अंग हैं, और निजता का उल्लंघन या व्यक्तिगत डेटा का दुरुपयोग व्यक्तियों के लिए गंभीर परिणाम ला सकता है। आधुनिक समाजों के लिए चुनौती यह सुनिश्चित करना है कि तकनीकी प्रगति व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कमजोर न करे या व्यक्तियों को ऐसी निगरानी में न रखे जिससे उनकी स्वायत्तता से समझौता हो।

पर्यावरण अधिकार समकालीन विस्तार का एक और महत्वपूर्ण आयाम प्रस्तुत करते हैं। जैसे-जैसे पर्यावरण का क्षरण, जलवायु परिवर्तन वैश्विक चिंता काहैविषय बनती जा रही है, त्रिपाठी (2019) जैसे विद्वान तर्क देते हैं कि प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्रों का संरक्षण अब मानव जीवन और कल्याण के संरक्षण से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। स्वच्छ और स्वस्थ पर्यावरण के अधिकार को मान्यता मिली है क्योंकि पर्यावरणीय क्षति सीधे तौर पर स्वास्थ्य, आजीविका और भावी पीढ़ियों के अस्तित्व को प्रभावित करती है। मोतीलाल और नंदा (2006) का कहना है कि पर्यावरण अधिकार इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं कि मानव गरिमा को पारिस्थितिक संतुलन से अलग नहीं किया जा सकता है। प्रदूषित वायु, दूषित जल, वनों की कटाई और जलवायु संबंधी आपदाएँ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करती हैं जो बुनियादी जीवन स्तर को खतरे में डालती हैं, विशेष रूप से कमजोर समुदायों के लिए। इस प्रकार पर्यावरण अधिकारों का उदय

इस बढ़ती समझ को दर्शाता है कि मानव अधिकारों को मानव और प्राकृतिक जगत के बीच संबंधों को ध्यान में रखना चाहिए।

हाल के दशकों में लैंगिक अधिकारों को भी मजबूती मिली है, क्योंकि समाज महिलाओं और लैंगिक अल्पसंख्यकों को प्रभावित करने वाली लंबे समय से चली आ रही असमानताओं का सामना कर रहा है। प्रियम, बनर्जी और मेनन (2009) बताते हैं कि ये अधिकार शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और प्रतिनिधित्व तक समान पहुँच के साथ-साथ हिंसा और भेदभाव से सुरक्षा जैसे मुद्दों को संबोधित करते हैं। लैंगिक अधिकारों का विस्तार दर्शाता है कि कैसे मानवाधिकार ढाँचे विकसित होते हैं जब सामाजिक आंदोलन, अनुसंधान और संस्थागत सुधार उन तरीकों को उजागर करते हैं जिनसे कुछ समूह ऐतिहासिक रूप से वंचित रहे हैं। लैंगिक अधिकारों की मान्यता ने समानता, स्वायत्तता और व्यक्तिगत विकल्पों को प्रभावित करने वाली सामाजिक संरचनाओं के बारे में व्यापक बहसों में योगदान दिया है। यह विकास इस विचार को रेखांकित करता है कि मानवाधिकार केवल कानूनी उपकरण नहीं हैं, बल्कि सामाजिक अनुभव द्वारा आकारित विकसित प्रतिबद्धताएँ हैं।

बाज़ार, वैश्वीकरण और आर्थिक पुनर्गठन पर होने वाली चर्चाएँ समकालीन मानवाधिकार चिंतन को भी प्रभावित करती हैं। उपेंद्र बक्शी के कार्यों का, राजनीतिक टिप्पणी के बिना निष्पक्ष रूप से उपयोग करने पर, यह स्पष्ट होता है कि वैश्विक आर्थिक परिवर्तन किस प्रकार व्यक्तियों और समुदायों की अपने अधिकारों को सुरक्षित करने की क्षमता को प्रभावित कर सकते हैं (बक्शी, 2002)। उनका दृष्टिकोण इस बात पर प्रकाश डालता है कि बाज़ार शक्तियाँ, बहुराष्ट्रीय निगम और वैश्विक आपूर्ति श्रृंखलाएँ नए अवसर तो पैदा करती हैं, लेकिन साथ ही नए जोखिम भी उत्पन्न करती हैं। इनमें अनौपचारिक क्षेत्रों में श्रम अधिकार, सामाजिक सुरक्षा पर वैश्विक प्रतिस्पर्धा का प्रभाव और तेजी से बदलती अर्थव्यवस्थाओं में श्रमिकों द्वारा अनुभव की जाने वाली असुरक्षाएँ जैसे मुद्दे शामिल हैं। बक्शी का विश्लेषण छात्रों को यह समझने के लिए प्रोत्साहित करता है कि मानवाधिकार न केवल राष्ट्रीय कानूनी प्रणालियों द्वारा, बल्कि व्यापक आर्थिक प्रक्रियाओं द्वारा भी आकार लेते हैं जो रोजगार के पैटर्न, संसाधनों तक पहुँच और सामाजिक कल्याण को प्रभावित करते हैं। यह आयाम यह दर्शाता है कि आर्थिक वातावरण यह निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं कि व्यक्ति वास्तव में अपने दैनिक जीवन में गरिमा का अनुभव कैसे करते हैं, जिससे मानवाधिकारों की समकालीन चर्चा को गहराई मिलती है।

हाल के दशकों में लैंगिक अधिकारों को भी मजबूती मिली है, क्योंकि समाज महिलाओं और लैंगिक अल्पसंख्यकों को प्रभावित करने वाली लंबे समय से चली आ रही असमानताओं का सामना कर रहा है। प्रियम, बनर्जी और मेनन (2009) बताते हैं कि ये अधिकार शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और प्रतिनिधित्व तक समान पहुँच के साथ-साथ हिंसा और भेदभाव से सुरक्षा जैसे मुद्दों को संबोधित करते हैं। लैंगिक अधिकारों का विस्तार दर्शाता है कि कैसे मानवाधिकार ढाँचे विकसित होते हैं जब सामाजिक आंदोलन, अनुसंधान और संस्थागत सुधार उन तरीकों को उजागर करते हैं जिनसे कुछ समूह ऐतिहासिक रूप से वंचित रहे हैं। लैंगिक अधिकारों की मान्यता ने समानता, स्वायत्तता और व्यक्तिगत विकल्पों को प्रभावित करने वाली सामाजिक संरचनाओं के बारे में व्यापक बहसों में योगदान दिया है। यह विकास इस विचार को रेखांकित करता है कि मानवाधिकार केवल कानूनी उपकरण नहीं हैं, बल्कि सामाजिक अनुभव द्वारा आकारित विकसित प्रतिबद्धताएँ हैं।

बाज़ार, वैश्वीकरण और आर्थिक पुनर्गठन पर होने वाली चर्चाएँ समकालीन मानवाधिकार चिंतन को भी प्रभावित करती हैं। उपेंद्र बक्शी के कार्यों का, राजनीतिक टिप्पणी के बिना निष्पक्ष रूप से उपयोग करने पर, यह स्पष्ट होता है कि वैश्विक आर्थिक परिवर्तन किस प्रकार व्यक्तियों और समुदायों की अपने अधिकारों को सुरक्षित करने की क्षमता को प्रभावित कर सकते हैं (बक्शी, 2002)। उनका दृष्टिकोण इस बात पर प्रकाश डालता है कि बाज़ार शक्तियाँ, बहुराष्ट्रीय निगम और वैश्विक आपूर्ति श्रृंखलाएँ नए अवसर तो पैदा करती हैं, लेकिन साथ ही नए जोखिम भी उत्पन्न करती हैं। इनमें अनौपचारिक क्षेत्रों में श्रम अधिकार, सामाजिक सुरक्षा पर वैश्विक प्रतिस्पर्धा का प्रभाव और तेजी से बदलती अर्थव्यवस्थाओं में श्रमिकों द्वारा अनुभव की जाने वाली असुरक्षाएँ जैसे मुद्दे शामिल हैं। बक्शी का विश्लेषण छात्रों को यह समझने के लिए प्रोत्साहित करता है कि मानवाधिकार न केवल राष्ट्रीय कानूनी प्रणालियों द्वारा, बल्कि व्यापक आर्थिक प्रक्रियाओं द्वारा भी आकार लेते हैं जो रोजगार के पैटर्न, संसाधनों तक पहुँच और सामाजिक कल्याण को प्रभावित करते हैं। यह आयाम यह दर्शाता है कि आर्थिक वातावरण यह निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं कि व्यक्ति वास्तव में अपने दैनिक जीवन में गरिमा का अनुभव कैसे करते हैं, जिससे मानवाधिकारों की समकालीन चर्चा को गहराई मिलती है।कुल मिलाकर, अधिकारों का समकालीन विस्तार एक सुसंगत प्रतिरूप प्रकट करता है: मानवाधिकार बदलती सामाजिक वास्तविकताओं के अनुरूप विकसित होते हैं। चिंताएँ जो

प्रत्येक ऐतिहासिक क्षण में उभरने वाले नए पहलू समाजों को मानवीय असुरक्षा के नए आयामों को पहचानने और उन चुनौतियों को प्रतिबिंबित करने वाले सुरक्षा उपायों को अपनाने के लिए बाध्य करते हैं। सामाजिक और आर्थिक अधिकारों से लेकर समूह-आधारित दावों तक, विकास और पर्यावरण अधिकारों से लेकर डिजिटल गोपनीयता और लैंगिक समानता तक, अधिकारों के विमर्श में प्रत्येक नया पहलू इस अंतर्निहित विश्वास पर आधारित है कि जीवन के सभी पहलुओं में मानवीय गरिमा को संरक्षित किया जाना चाहिए। यह निरंतर विकास पारंपरिक अधिकार चिंतन से विचलन नहीं है, बल्कि एक लंबी प्रक्रिया की निरंतरता है जिसके माध्यम से समाज नई परिस्थितियों के अनुकूल ढलते हैं और सभी व्यक्तियों के लिए निष्पक्षता, सुरक्षा और सम्मान के प्रति अपनी प्रतिबद्धता की पुष्टि करते हैं।

## खंड B – प्राचीन भारतीय मानवाधिकारों की अवधारणा

### B1. धर्म, न्याय और प्रारंभिक भारतीय नैतिक विचार

प्राचीन भारतीय नैतिक जीवन का दृष्टिकोण ऐसे परिवेश में विकसित हुआ जहाँ समाज व्यवस्था, कर्तव्य और पारस्परिक उत्तरदायित्व के विचारों पर आधारित था। अधिकारों को व्यक्तिगत दावों के रूप में परिभाषित करने के बजाय, प्रारंभिक भारतीय चिंतन ने उन नैतिक आधारों पर बल दिया जिनसे समुदाय सामंजस्यपूर्ण ढंग से कार्य कर सकें। त्रिपाठी (2019) बताते हैं कि इस परंपरा का मार्गदर्शक सिद्धांत धर्म की अवधारणा थी, एक ऐसा शब्द जो कर्तव्य, धार्मिकता और सामूहिक कल्याण की खोज के विचारों को समाहित करता था। धर्म ने एक नैतिक शब्दावली प्रदान की जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने परिवार, समुदाय और व्यापक सामाजिक व्यवस्था के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को समझ सके। धर्म का पालन एक संतुलित और स्थिर समाज की प्राप्ति के लिए आवश्यक माना जाता था। जहाँ आधुनिक चर्चाएँ अधिकारों को व्यक्तियों के हक के रूप में देखती हैं, वहीं प्राचीन भारतीय ग्रंथों में कर्तव्यों को उस आधार के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसके माध्यम से न्याय और निष्पक्षता सुनिश्चित की जाती थी। इस संदर्भ में, धर्म नियमों का एक संकीर्ण समूह नहीं बल्कि नैतिक आचरण के लिए एक व्यापक मार्गदर्शक सिद्धांत था। मोतीलाल और नंदा (2006) बताते हैं कि धर्म

में व्यक्तिगत नैतिकता, सामाजिक व्यवहार और शासकों तथा सार्वजनिक अधिकारियों के दायित्व शामिल थे। इसमें सद्भाव, सत्यनिष्ठा, उदारता, अहिंसा और दूसरों के प्रति सम्मान को बढ़ावा देने वाले कार्यों पर बल दिया गया था। इन मूल्यों ने इस बात की अपेक्षाओं को आकार दिया कि व्यक्तियों को एक-दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए।उन्होंने राज्य की जिम्मेदारियों के बारे में भी बताया, जिससे सुरक्षा प्रदान करने, न्याय लागू करने और सामाजिक कल्याण के लिए आवश्यक स्थितियों को बनाए रखने की अपेक्षा की जाती थी। इस प्रकार, प्राचीन भारतीय नैतिक जीवन की समझ ने व्यक्तिगत चरित्र को सामूहिक कल्याण से जोड़ा, जिससे यह पता चलता है कि समाज की स्थिरता पारस्परिक जिम्मेदारियों के निर्वहन पर निर्भर करती है।

न्याय की अवधारणा धर्म की अवधारणा के साथ-साथ विकसित हुई। न्याय से तात्पर्य निष्पक्षता, तटस्थता और विधिवत व्यवस्था के उन सिद्धांतों से था जो एक न्यायपूर्ण समाज के लिए आवश्यक थे। त्रिपाठी (2019) बताते हैं कि प्रारंभिक भारतीय विचारकों ने न्याय को वैध शासन का आधार माना। संसाधनों का उचित वितरण, विवादों का निष्पक्ष निपटारा और कमजोरों की सुरक्षा को शासकों के आवश्यक दायित्व समझा गया। इस परंपरा में, न्याय को केवल एक कानूनी प्रक्रिया के रूप में नहीं, बल्कि व्यवस्था के संरक्षण और सामाजिक सद्भाव को बढ़ावा देने से जुड़ी एक नैतिक प्रतिबद्धता के रूप में देखा गया। न्याय वह ढाँचा था जिसके माध्यम से राज्य से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह यह सुनिश्चित करे कि न तो शक्ति और न ही विशेषाधिकार समाज के संतुलन को भंग करें। धर्म और न्याय दोनों से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय चिंतन ने मानवीय गरिमा के विचार को अधिकारों की भाषा के बजाय कर्तव्यों की भाषा के माध्यम से समझा। जहाँ आधुनिक संविधान व्यक्तिगत स्वतंत्रता और अधिकारों पर ज़ोर देते हैं, वहीं प्रारंभिक परंपराओं का ध्यान ऐसे नैतिक आचरण को बढ़ावा देने पर था जो सभी के कल्याण की रक्षा करता हो। यह दृष्टिकोण इस विश्वास को दर्शाता था कि व्यक्तिगत व्यवहार और सामाजिक उत्तरदायित्व अविभाज्य हैं। व्यक्तियों को उत्तरदायित्वपूर्वक कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करके, प्राचीन विचारकों ने हानि को रोकने, संघर्ष को कम करने और समुदाय में निष्पक्षता सुनिश्चित करने का प्रयास किया। यद्यपि अधिकारों की स्पष्ट अवधारणा अभी विकसित नहीं हुई थी, फिर भी मानव कल्याण और नैतिक व्यवहार के प्रति अंतर्निहित चिंता पहले से ही मौजूद थी।

त्रिपाठी (2019) और मोतीलाल एवं नंदा (2006) जैसे विद्वानों का तर्क है कि इन प्रारंभिक परंपराओं ने गरिमा और न्याय की बाद की समझ की नींव रखी। वे देखते हैं कि धर्म और न्याय में निहित मूल्यों ने शासकों और नागरिकों दोनों से अपेक्षाओं को आकार दिया। इन मूल्यों ने नैतिक आधार बनाने में मदद की, जिस पर भारत में बाद में कानूनी और राजनीतिक ढाँचे विकसित हुए। सामाजिक उत्तरदायित्व, निष्पक्षता और कल्याण पर जोर ने एक ऐसा नैतिक वातावरण बनाया जिसने व्यक्तियों के आंतरिक मूल्य को मान्यता दी, भले ही उसने इस मूल्य को आधुनिक अधिकारों की भाषा में व्यक्त न किया हो। यह ऐतिहासिक संदर्भ छात्रों को यह समझने में मदद करता है कि समकालीन मानवाधिकार विमर्श के उदय से बहुत पहले मानव गरिमा का विचार कैसे मौजूद था।

### B2. कर्तव्यों में निहित अधिकार

प्रारंभिक भारतीय नैतिक चिंतन की एक विशिष्ट विशेषता यह है कि अधिकारों को व्यक्तियों के एक-दूसरे के प्रति कर्तव्यों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से समझा जाता था। बनर्जी और मेनन (2009) बताते हैं कि शास्त्रीय भारतीय ग्रंथों में अधिकारों को स्पष्ट हक के रूप में नहीं बताया गया है, बल्कि यह माना गया है कि जब हर कोई अपने कर्तव्यों का पालन करता है, तो न्याय और निष्पक्षता के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। इस दृष्टिकोण ने नैतिक जीवन के केंद्र

में हक के बजाय उत्तरदायित्व को रखा। कर्तव्य सुरक्षा कवच के रूप में कार्य करते थे जो व्यक्तियों को हानि से बचाते थे और यह सुनिश्चित करते थे कि उनके मूलभूत हितों का सम्मान किया जाए। उदाहरण के लिए, चोट न पहुँचाने का कर्तव्य अप्रत्यक्ष रूप से दूसरों के कल्याण की रक्षा करता था, ठीक उसी प्रकार जैसे सत्य बोलने का कर्तव्य सामाजिक संबंधों की अखंडता की रक्षा करता था। इस नैतिक ढाँचे में राजा के कर्तव्य विशेष रूप से महत्वपूर्ण थे। मोतीलाल और नंदा (2006) बताते हैं कि प्राचीन राजनीतिक चिंतन में शासकों पर सुरक्षा सुनिश्चित करने, न्याय प्रशासन करने और कल्याण को बढ़ावा देने की कड़ी ज़िम्मेदारी थी। राजा से जीवन और संपत्ति की रक्षा करने, शांति बनाए रखने और संकट के समय सहायता प्रदान करने की अपेक्षा की जाती थी। इन दायित्वों का निर्वाह न करना धर्म का उल्लंघन और समाज की स्थिरता के लिए खतरा माना जाता था। इन कर्तव्यों को पूरा करके, शासक प्रभावी रूप से उन अधिकारों को सुनिश्चित करते थे जिन्हें आज हम सुरक्षा का अधिकार, न्याय का अधिकार और बुनियादी कल्याण का अधिकार कहते हैं। यद्यपि इन्हें व्यक्तिगत दावों के रूप में व्यक्त नहीं किया गया था, फिर भी यह अपेक्षा कि शासकों को अपनी प्रजा के कल्याण के लिए कार्य करना चाहिए, ने एक ऐसी संरचना का निर्माण किया जिसमें व्यक्तियों के बुनियादी हितों की रक्षा की जाती थी।

नागरिकों से भी समाज की व्यवस्था और कल्याण में योगदान देने की अपेक्षा की जाती थी। त्रिपाठी (2019) बताते हैं कि व्यक्तियों को नैतिक आचरण का पालन करने, समुदाय के साथ सहयोग करने और अपने परिवार और पेशे के प्रति दायित्वों को पूरा करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। इन अपेक्षाओं का उद्देश्य व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सीमित करना नहीं था, बल्कि यह सुनिश्चित करना था कि सामाजिक जीवन शांतिपूर्ण और भरोसेमंद बना रहे। जब व्यक्ति जिम्मेदारी से व्यवहार करते थे, तो सामाजिक संघर्ष कम होते थे और विश्वास मजबूत होता था। इस सामूहिक नैतिकता ने एक ऐसा वातावरण बनाया जिसमें लोग सुरक्षित रूप से रह सकते थे और सार्थक जीवन जी सकते थे। पारस्परिक जिम्मेदारी पर जोर देने का अर्थ था कि व्यक्तिगत कल्याण दूसरों के नैतिक व्यवहार से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था।

यह दृष्टिकोण दर्शाता है कि यद्यपि प्राचीन भारतीय चिंतन ने अधिकारों का कोई औपचारिक सिद्धांत विकसित नहीं किया, फिर भी इसने उन मूल्यों को मान्यता दी जिनकी रक्षा आधुनिक अधिकार करना चाहते हैं। कर्तव्यों की व्यवस्था एक नैतिक ढाँचे के रूप में कार्य करती थी जो अप्रत्यक्ष रूप से मानवीय गरिमा की रक्षा करती थी। प्रियम एट अल. (2009) जैसे विद्वान दर्शाते हैं कि व्यक्तिगत दायित्वों को सामूहिक कल्याण से जोड़कर, प्राचीन विचारकों ने न्याय, संरक्षण और सामाजिक उत्तरदायित्व की बाद की समझ की नींव रखी। यह विचार कि शासकों का कर्तव्य रक्षा करना है और नागरिकों का कर्तव्य नैतिक रूप से कार्य करना है, इस बात को समझने के लिए प्रासंगिक बना हुआ है कि प्रारंभिक भारतीय परंपराओं ने मानवाधिकार चिंतन के विकास में कैसे योगदान दिया।

### B3. मानव गरिमा का समर्थन करने वाली शास्त्रीय भारतीय परंपराएँ

धर्म और न्याय की व्यापक नैतिक अवधारणाओं के अलावा, भारत के भीतर विशिष्ट शास्त्रीय परंपराओं ने मानव गरिमा की आधुनिक समझ का समर्थन करने वाले विचारों में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उदाहरण के लिए, बुद्ध की शिक्षाओं ने करुणा, हानि से परहेज और सभी मनुष्यों के मूल्य पर ज़ोर दिया। त्रिपाठी (2019) बताते हैं कि प्रारंभिक बौद्ध विचार पीड़ा को कम करने और नैतिक आचरण को बढ़ावा देने पर केंद्रित थे। दया, संयम और सचेतनता जैसे विचारों ने व्यक्तियों पर रखी गई नैतिक अपेक्षाओं को आकार दिया। करुणा के रूप में जानी जाने वाली करुणा पर इस ज़ोर ने लोगों को दूसरों के प्रति सहानुभूति और विचार के साथ कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया। कई मायनों में, ये शिक्षाएँ

व्यक्तियों की भावनात्मक और शारीरिक भलाई के लिए गहरी चिंता को दर्शाती हैं, भले ही उन्हें अधिकारों के रूप में व्यक्त नहीं किया गया हो

अशोक का शासनकाल इस बात का एक और उदाहरण प्रस्तुत करता है कि किस प्रकार शास्त्रीय भारतीय परंपराओं ने मानव कल्याण की रक्षा का समर्थन किया। मोतीलाल और नंदा (2006) बताते हैं कि अशोक के शिलालेखों में अहिंसा, सहिष्णुता, दान-पुण्य और समस्त प्रजा के कल्याण पर बल दिया गया था। उनके आदेशों में विभिन्न धार्मिक परंपराओं के प्रति सम्मान, कैदियों के साथ उचित व्यवहार और अस्पतालों एवं विश्रामगृहों जैसे सार्वजनिक कार्यों को प्रोत्साहित किया गया था। अशोक का दृष्टिकोण यह दर्शाता है कि प्राचीन शासक नैतिक उत्तरदायित्व को शासन से परे करुणा और जन कल्याण तक विस्तारित मानते थे। यद्यपि इन प्रथाओं को अधिकारों के रूप में व्यक्त नहीं किया गया था, फिर भी वे मानवीय गरिमा और नैतिक शासन के प्रति स्पष्ट प्रतिबद्धता को दर्शाती थीं।

भक्ति आंदोलन से जुड़ी अन्य शास्त्रीय परंपराओं ने भी गरिमा और सम्मान के विचारों में योगदान दिया। प्रियम, बनर्जी और मेनन (2009) बताते हैं कि कई भक्ति संतों की शिक्षाओं में भक्ति, विनम्रता और व्यक्तियों के आंतरिक मूल्य पर जोर दिया गया। उनके लेखन में ईश्वर के समक्ष समानता और सच्चे नैतिक आचरण के महत्व जैसे मूल्यों को उजागर किया गया। इन विचारों ने मानवता की भावना को बढ़ावा दिया और ऐसे नैतिक परिवेश का निर्माण किया जहाँ व्यक्तियों को उनकी पृष्ठभूमि की परवाह किए बिना महत्व दिया गया। यद्यपि ये परंपराएँ अपने-अपने सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संदर्भों में संचालित हुईं, फिर भी उन्होंने ऐसे दृष्टिकोणों को बढ़ावा दिया जो गरिमा और सम्मान के आधुनिक सिद्धांतों से मेल खाते हैं।

इन शास्त्रीय परंपराओं को समग्र रूप से देखने पर पता चलता है कि प्राचीन भारतीय चिंतन में व्यक्तियों के कल्याण और सामाजिक सद्भाव को बढ़ावा देने से संबंधित समृद्ध नैतिक शब्दावली निहित थी। त्रिपाठी (2019) और मोतीलाल एवं नंदा (2006) जैसे विद्वान बताते हैं कि यद्यपि अधिकारों की स्पष्ट भाषा मौजूद नहीं थी, फिर भी इन परंपराओं के अंतर्निहित नैतिक सिद्धांत समान उद्देश्यों की पूर्ति करते थे। वे हानि को हतोत्साहित करते थे, करुणा को प्रोत्साहित करते थे और निष्पक्षता को बढ़ावा देते थे। इन परंपराओं ने वह सांस्कृतिक आधारशिला रखी जिस पर बाद में मानवीय गरिमा और न्याय के विचार विकसित हुए। ऐतिहासिक संदर्भ में इनका अध्ययन करके छात्र यह बेहतर ढंग से समझ सकते हैं कि अधिकारों से संबंधित अवधारणाएँ कानूनी ढाँचों में औपचारिक रूप से शामिल होने से बहुत पहले नैतिक परंपराओं से कैसे उभर सकती हैं।

## खंड C – मानवाधिकारों की चार पीढ़ियाँ

समय के साथ मानवाधिकारों का विकास हुआ है, जो दुनिया भर के समाजों की बदलती ज़रूरतों और आकांक्षाओं को दर्शाता है। विद्वानों ने इन अधिकारों को उनके ऐतिहासिक विकास, दार्शनिक आधारों और सामाजिक प्रासंगिकता को समझने के लिए विभिन्न पीढ़ियों में वर्गीकृत किया है। इन पीढ़ियों को समझने से छात्रों को समय के साथ मानवाधिकारों की निरंतरता और विस्तार दोनों की सराहना करने के लिए एक स्पष्ट ढाँचा मिलता है। यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि यह वर्गीकरण कठोर नहीं है; बल्कि, यह इस बात की जांच करने के लिए एक व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रदान करता है कि कैसे अधिकारों का विस्तार विकसित हो रही मानवीय चुनौतियों का समाधान करने के लिए हुआ है। पहली पीढ़ी नागरिक

और राजनीतिक अधिकारों पर, दूसरी सामाजिक और आर्थिक अधिकारों पर, तीसरी सामूहिक या एकजुटता अधिकारों पर, और चौथी तकनीकी और वैश्विक विकास द्वारा आकारित उभरते अधिकारों पर केंद्रित है।

**पहली पीढ़ी के अधिकार,** जिन्हें अक्सर नागरिक और राजनीतिक अधिकार कहा जाता है, आधुनिक मानवाधिकार विमर्श की आधारशिला बनाते हैं। ये अधिकार उदार लोकतांत्रिक परंपरा में गहराई से निहित हैं और स्वतंत्रता, समानता और कानून के शासन के लिए ऐतिहासिक संघर्षों से उत्पन्न हुए हैं। इस पीढ़ी का मूल विश्वास यह है कि व्यक्तियों में जन्मजात स्वतंत्रताएँ होती हैं और किसी भी कार्यशील लोकतंत्र के लिए उनकी सुरक्षा आवश्यक है। ये अधिकार व्यक्तिगत सुरक्षा, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, राजनीतिक भागीदारी और मनमानी राज्य कार्रवाई से सुरक्षा की गारंटी देते हैं।

कानून के समक्ष समानता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और राजनीतिक प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करके, प्रथम पीढ़ी के अधिकार व्यक्तियों को स्वायत्तता का प्रयोग करने और नागरिक जीवन में भाग लेने के लिए आवश्यक न्यूनतम शर्तें स्थापित करते हैं (हॉफमैन और ग्राहम, 2006)। भारतीय संदर्भ में, संविधान मौलिक प्रावधानों के माध्यम से इन अधिकारों को सुरक्षित करता है जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता, समानता और राजनीतिक भागीदारी की रक्षा करते हैं, जिससे अंतर्राष्ट्रीय सिद्धांतों को राष्ट्रीय व्यवहार में उतारा जा सके। इन अधिकारों को आवश्यक माना जाता है क्योंकि ये वह कानूनी और नैतिक ढाँचा प्रदान करते हैं जिसके भीतर नागरिक सुरक्षा का दावा कर सकते हैं और शासन में पूर्ण रूप से भाग ले सकते हैं।

**दूसरी पीढ़ी के अधिकार** मानव गरिमा की अवधारणा को व्यक्तिगत स्वतंत्रता से आगे बढ़ाकर सामाजिक और आर्थिक कल्याण तक विस्तारित करते हैं। जहाँ प्रथम पीढ़ी के अधिकार नागरिक और राजनीतिक स्वतंत्रताओं पर केंद्रित हैं, वहीं द्वितीय पीढ़ी के अधिकार यह मानते हैं कि सच्ची मानव गरिमा के लिए आवश्यक संसाधनों और अवसरों तक पहुँच अनिवार्य है। इनमें शिक्षा, स्वास्थ्य, कार्य, सामाजिक सुरक्षा और पर्याप्त जीवन स्थितियों का अधिकार शामिल है। त्रिपाठी (2019) और मोतीलाल एवं नंदा (2006) बताते हैं कि ये अधिकार औद्योगिक और उत्तर-औद्योगिक काल के दौरान सामाजिक सुधार आंदोलनों और सामाजिक-आर्थिक असमानताओं के प्रति बढ़ती जागरूकता से उत्पन्न हुए। भारत में, संविधान के अनुच्छेद 41 से 47 इस प्रतिबद्धता को दर्शाते हैं और राज्य को सामाजिक कल्याण के अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान करने का दायित्व देते हैं, जिनमें कार्य, शिक्षा और स्वास्थ्य का अधिकार शामिल है। द्वितीय पीढ़ी के अधिकार विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे यह मानते हैं कि यदि व्यक्तियों के पास समाज में सार्थक रूप से भाग लेने के साधन नहीं हैं, तो औपचारिक समानता और स्वतंत्रता अपर्याप्त हैं। सामाजिक न्याय और आर्थिक अवसरों को मानवाधिकार ढाँचे में शामिल करके, ये अधिकार सुनिश्चित करते हैं कि गरिमा केवल एक अमूर्त सिद्धांत नहीं बल्कि एक जीवंत वास्तविकता है।

**तीसरी पीढ़ी के अधिकार** मानवाधिकार एजेंडा का और विस्तार प्रस्तुत करते हैं, जो सामूहिक, एकजुटता या समूह अधिकारों पर केंद्रित हैं। ये अधिकार स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति बड़े समुदायों का हिस्सा हैं और विकास, शांति और पर्यावरण संरक्षण जैसी कुछ स्थितियाँ समग्र रूप से समाजों के विकास के लिए आवश्यक हैं। त्रिपाठी (2019) इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि ये अधिकार वैश्विक चुनौतियों के जवाब में उभरे हैं, जिनका समाधान केवल राष्ट्रीय या व्यक्तिगत कार्रवाई से नहीं किया जा सकता। पर्यावरणीय स्थिरता, स्वदेशी संसाधनों का संरक्षण और शांति को बढ़ावा देना इस पीढ़ी की चिंताओं के उदाहरण हैं। SAHRDC (2006) की रिपोर्ट भी इस बात पर बल देती है कि तीसरी पीढ़ी

के अधिकार सहयोग, सामूहिक जिम्मेदारी और मानवता के दीर्घकालिक कल्याण पर बल देते हैं। नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के विपरीत, जो मुख्य रूप से व्यक्ति को राज्य से सुरक्षा प्रदान करते हैं, इन अधिकारों के लिए सामुदायिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समन्वित कार्रवाई की आवश्यकता होती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि तीसरी पीढ़ी के अधिकार किसी विशिष्ट राजनीतिक विचारधारा को थोपते नहीं हैं, बल्कि साझा नैतिक चिंताओं को दर्शाते हैं, जिससे समाजों को वैश्विक मानकों के अनुरूप रहते हुए स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार उन्हें अपनाने की अनुमति मिलती है।

**चौथी पीढ़ी के अधिकार मा**नवाधिकारों के वैचारिक मानचित्र में नवीनतम जुड़ाव हैं। ये अधिकार प्रौद्योगिकी, वैश्वीकरण और तीव्र वैज्ञानिक प्रगति के कारण आए व्यापक परिवर्तनों के अनुरूप हैं। चौथी पीढ़ी के अधिकारों में व्यक्तिगत डेटा की सुरक्षा, डिजिटल गोपनीयता, कृत्रिम बुद्धिमत्ता की नैतिकता और जैव प्रौद्योगिकी में नैतिक विचार शामिल हैं। बक्सी (2002) जैसे विद्वान ध्यान देते हैं कि ये अधिकार भविष्य की चुनौतियों का पूर्वानुमान लगाते हैं, यह सुनिश्चित करते हुए कि उभरती प्रौद्योगिकियाँ मानवीय गरिमा से समझौता न करें।त्रिपाठी (2019) आगे बताते हैं कि ये अधिकार मानवाधिकार ढाँचे को उन क्षेत्रों तक विस्तारित करते हैं जिनकी पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, जो इस बात को दर्शाते हैं कि समाज यह स्वीकार करता है कि नए जोखिमों के लिए सक्रिय नैतिक और कानूनी सुरक्षा उपायों की आवश्यकता है। चौथी पीढ़ी के अधिकार इस मायने में विशिष्ट हैं कि वे काफी हद तक भविष्योन्मुखी हैं, रोकथाम, नैतिक मानकों और वैश्विक सहयोग पर जोर देते हैं। वे मानवाधिकारों की गतिशील प्रकृति को प्रदर्शित करते हैं, यह दर्शाते हुए कि कैसे कानूनी और नैतिक सिद्धांत वैज्ञानिक और सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ विकसित होते हैं।

इन चार पीढ़ियों की अवधारणा मानवाधिकारों की गतिशील और विकसित होती प्रकृति को रेखांकित करती है। प्रत्येक पीढ़ी पिछली पीढ़ी पर आधारित है, जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता से लेकर सामाजिक कल्याण, सामूहिक उत्तरदायित्व और तकनीकी नवाचार के जवाब में पूर्वानुमानित सुरक्षा तक के दायरे को विस्तृत करती है। ये सभी मिलकर मानवीय गरिमा और राज्य तथा समाज के दायित्वों को समझने के लिए एक समग्र ढाँचा प्रदान करते हैं। इन श्रेणियों के विकास में निष्पक्ष शोध पर विशेष ध्यान देने से यह सुनिश्चित होता है कि छात्र विवादास्पद वैचारिक व्याख्याओं का सामना किए बिना विषयवस्तु से जुड़ सकें। प्रत्येक पीढ़ी की ऐतिहासिक जड़ों, कानूनी संहिताकरण और समकालीन प्रासंगिकता का अध्ययन करके, शिक्षार्थी यह एकीकृत समझ प्राप्त करते हैं कि आधुनिक समाजों की जटिल आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मानवाधिकारों का विकास कैसे हुआ है।

संक्षेप में, पहली पीढ़ी के अधिकार स्वतंत्रता और सहभागिता सुनिश्चित करते हैं, दूसरी पीढ़ी के अधिकार सामाजिक और आर्थिक कल्याण के साधन प्रदान करते हैं, तीसरी पीढ़ी के अधिकार सामूहिक कल्याण और पर्यावरणीय स्थिरता पर जोर देते हैं, और चौथी पीढ़ी के अधिकार उभरती तकनीकी और वैश्विक चुनौतियों का समाधान करते हैं। ये सभी मिलकर दर्शाते हैं कि मानवाधिकार न तो स्थिर हैं और न ही किसी एक क्षेत्र तक सीमित हैं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक, पर्यावरणीय और तकनीकी विकास के अनुरूप निरंतर विस्तारित होते रहते हैं। ओ'बर्न (2007), एसएचएआरडीसी (2006), त्रिपाठी (2019), प्रियम, बनर्जी और मेनन (2009), मोतीलाल और नंदा (2006), और बक्सी (2002) के कार्यों से सामूहिक रूप से यह सिद्ध होता है कि मानवाधिकारों को बहु-पीढ़ीगत ढाँचे के रूप में समझना छात्रों के लिए विश्व स्तर पर मानव गरिमा संरक्षण की ऐतिहासिक गहराई, समकालीन प्रासंगिकता और भविष्य की दिशाओं को समझने के लिए आवश्यक है।

## खंड D – मानवाधिकार और नागरिकता अधिकार

### D1. मानवाधिकार और नागरिकता अधिकारों के बीच अंतर

मानवाधिकार और नागरिकता अधिकार आपस में घनिष्ठ रूप से संबंधित अवधारणाएँ हैं, फिर भी वे महत्वपूर्ण तरीकों से भिन्न हैं। मानवाधिकार सार्वभौमिक हैं; वे सभी मनुष्यों पर उनकी मानवता के कारण लागू होते हैं। वे अंतर्निहित हैं और किसी विशेष राज्य के कानूनों या मान्यता पर निर्भर नहीं हैं। दूसरी ओर, नागरिकता अधिकार वे अधिकार हैं जो एक संप्रभु राज्य अपने नागरिकों को गारंटी देता है। वे संविधानों और राष्ट्रीय कानूनों में निहित कानूनी अधिकार हैं, और उनमें अक्सर नागरिक, राजनीतिक और सामाजिक आयाम शामिल होते हैं जो नागरिकों को अपने देश के जीवन में पूरी तरह से भाग लेने की अनुमति देते हैं। भारत में, ये नागरिकता अधिकार मुख्य रूप से संविधान के अनुच्छेद 12 से 35 में निहित हैं, जिनमें मौलिक अधिकार, कानून के समक्ष समानता, अभिव्यक्ति और संघ की स्वतंत्रता और भेदभाव के खिलाफ सुरक्षा शामिल है। यह अंतर महत्वपूर्ण है क्योंकि जबकि सभी नागरिकों को नागरिकता अधिकारों तक पहुँच प्राप्त हो सकती है, मानवाधिकार राष्ट्रीय सीमाओं से परे हैं और राष्ट्रीयता, जातीयता या अन्य भेदों के आधार पर उन्हें नकारा नहीं जा सकता है।

वैचारिक अंतर प्रत्येक श्रेणी के दार्शनिक और कानूनी आधारों को भी उजागर करता है। मानवाधिकार सार्वभौमिक नैतिक तर्क और अंतर्राष्ट्रीय समझौतों, जैसे मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा, से उत्पन्न होते हैं, जो क्षेत्राधिकार की परवाह किए बिना सभी व्यक्तियों के साथ व्यवहार के लिए न्यूनतम मानक निर्धारित करती है। नागरिकता अधिकार अधिक संदर्भ-विशिष्ट होते हैं; वे किसी विशेष राज्य द्वारा अपने नागरिकों के प्रति की गई प्रतिबद्धताओं को दर्शाते हैं। फिर भी दोनों परस्पर निर्भर हैं। नागरिकता अधिकार अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार मानदंडों द्वारा मजबूत होते हैं, और मानवाधिकारों का व्यावहारिक महत्व तब बढ़ जाता है जब राज्यों द्वारा उनकी रक्षा और प्रवर्तन किया जाता है। मोतीलाल और नंदा (2006) इस बात पर जोर देते हैं कि इस अंतर को समझने से छात्रों को यह देखने में मदद मिलती है कि कानूनी ढाँचे नैतिक सिद्धांतों के साथ मिलकर कैसे कार्य करते हैं, जिससे गरिमा, स्वतंत्रता और न्याय की रक्षा के लिए एक मजबूत प्रणाली का निर्माण होता है।

ऐतिहासिक घटनाक्रम इस अंतर को और स्पष्ट करते हैं। मानवाधिकार, अपनी आधुनिक अवधारणा में, अत्याचार, उपनिवेशवाद और मानवीय गरिमा के घोर उल्लंघन के विरुद्ध वैश्विक संघर्षों से उत्पन्न हुए। नागरिकता अधिकार आधुनिक राष्ट्र-राज्यों के विकास के साथ विकसित हुए, जिससे व्यक्तियों को राष्ट्रीय पहचान और अपनेपन से जुड़े कानूनी अधिकार प्राप्त हुए। भारत में, स्वतंत्रता के बाद का संवैधानिक ढाँचा इन दोनों प्रभावों को प्रतिबिंबित करता है। संविधान सार्वभौमिक मानवाधिकार सिद्धांतों को मान्यता देता है, साथ ही भारतीय नागरिकों के लिए विशिष्ट अधिकारों को संहिताबद्ध करता है, जिससे नागरिक, राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रों में सुरक्षा सुनिश्चित होती है। (हरगोपाल, 1997) यह दोहरा ढाँचा दर्शाता है कि अधिकार केवल अमूर्त विचार नहीं हैं, बल्कि कार्यात्मक साधन हैं जो अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर कार्य करते हैं।

### D2. नागरिकता के रूप

नागरिकता को कई आयामों में समझा जा सकता है, जिनमें से प्रत्येक राज्य के जीवन में भागीदारी के एक अलग पहलू को उजागर करता है। नागरिक नागरिकता नागरिकों की अधिकारों का प्रयोग करने और कर्तव्यों को पूरा करने की कानूनी

क्षमता को संदर्भित करती है। इसमें भाषण, धर्म, संपत्ति के अधिकार और कानूनी उपचार प्राप्त करने की क्षमता जैसी स्वतंत्रताएँ शामिल हैं। राजनीतिक नागरिकता शासन में भागीदारी पर जोर देती है, जिसमें मतदान का अधिकार, सार्वजनिक पद के लिए चुनाव लड़ना और राजनीतिक निर्णय लेने में शामिल होना शामिल है। सामाजिक नागरिकता में सामाजिक वस्तुओं और सेवाओं तक पहुँच शामिल है जो नागरिकों को गरिमा के साथ जीने में सक्षम बनाती है, जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा, रोजगार और सामाजिक सुरक्षा। मार्शल जैसे विद्वानों द्वारा विस्तृत यह वर्गीकरण, राजनीतिक या वैचारिक टिप्पणी किए बिना यह समझने के लिए एक वर्णनात्मक ढाँचा प्रदान करता है कि नागरिकता व्यवहार में कैसे कार्य करती है।

ये रूप आपस में जुड़े हुए और परस्पर सुदृढ़ हैं। नागरिक और राजनीतिक नागरिकता यह सुनिश्चित करती है कि व्यक्ति प्रभावी रूप से सामाजिक अधिकारों का दावा कर सकें। सामाजिक नागरिकता, बदले में, नागरिकों को संरचनात्मक नुकसान के बिना सार्वजनिक जीवन में पूरी तरह से शामिल होने में सक्षम बनाकर नागरिक और राजनीतिक भागीदारी को बढ़ाती है। भारत में, संवैधानिक प्रावधान और कल्याणकारी कार्यक्रम इन आयामों को क्रियान्वित करने का लक्ष्य रखते हैं। मौलिक अधिकार नागरिक स्वतंत्रता की गारंटी देते हैं, जबकि राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत और लक्षित कल्याणकारी पहल सामाजिक नागरिकता का समर्थन करते हैं, जिससे सभी नागरिकों को विकास और भागीदारी के लिए समान अवसर प्राप्त होते हैं। मोतीलाल और नंदा (2006) इस बात पर जोर देते हैं कि इन आयामों को समझने से छात्रों को नागरिकता की स्तरित प्रकृति और उन तंत्रों की सराहना करने में मदद मिलती है जिनके माध्यम से राज्य व्यक्तिगत और सामूहिक कल्याण को सुगम बनाता है।

### D3. अधिकारों के संरक्षक के रूप में राज्य

राज्य मानवाधिकारों और नागरिकता अधिकारों दोनों की रक्षा में केंद्रीय भूमिका निभाता है। इसकी जिम्मेदारियों में कानूनी ढाँचे बनाना, कानूनों को लागू करना और अधिकारों के उल्लंघन होने पर निवारण के लिए संस्थागत तंत्र प्रदान करना शामिल है। न्यायालय प्रमुख मध्यस्थ के रूप में कार्य करते हैं, संवैधानिक प्रावधानों की व्याख्या करते हैं और कानून के शासन को बनाए रखते हैं। भारत में, राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग निरीक्षण की एक अतिरिक्त परत प्रदान करता है, उल्लंघनों को संबोधित करता है, उपचारात्मक कार्यों की सिफारिश करता है और अधिकारों के बारे में जागरूकता को बढ़ावा देता है।(मोतीलाल और नंदा, 2006)

कल्याणकारी जिम्मेदारियाँ राज्य के सुरक्षात्मक कार्य का एक और महत्वपूर्ण पहलू हैं। बुनियादी सेवाएँ प्रदान करके, सामाजिक और आर्थिक नीतियों को विनियमित करके, और न्याय तक पहुँच सुनिश्चित करके, राज्य नागरिकों को अपने अधिकारों का सार्थक रूप से प्रयोग करने में सक्षम बनाता है। हरगोपाल (1997) इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि ये सुरक्षाएँ सामाजिक और आर्थिक असमानता के संदर्भों में विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं, जहाँ राज्य का हस्तक्षेप यह सुनिश्चित करता है कि गरिमा और निष्पक्षता के सार्वभौमिक सिद्धांत केवल अलंकारिक नहीं बल्कि प्रभावी रूप से साकार हों। बक्सी (2002) इसी तरह इस बात पर जोर देते हैं कि मानवाधिकारों और नागरिकता दायित्वों के प्रति प्रतिबद्ध राज्य व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक सामंजस्य दोनों को मजबूत करता है।

इन तंत्रों के माध्यम से, छात्र देख सकते हैं कि कैसे कानूनी प्रावधान, संस्थागत संरचनाएँ और नीतिगत हस्तक्षेप सामूहिक रूप से यह सुनिश्चित करते हैं कि अधिकार अमूर्त आदर्श नहीं बल्कि जीती-जागती वास्तविकताएँ हैं। मानवाधिकारों,

नागरिकता अधिकारों और राज्य की जिम्मेदारियों के बीच की बातचीत उस गतिशील प्रक्रिया को दर्शाती है जिसके माध्यम से समाज न्याय, समानता और मानवीय गरिमा को बनाए रखता है। इन आयामों का अध्ययन करके, छात्रों को इस बात की व्यापक समझ प्राप्त होती है कि अधिकार व्यवहार में कैसे काम करते हैं और वे लोकतांत्रिक शासन और सामाजिक कल्याण में कैसे योगदान करते हैं।

## खंड A - मैग्ना कार्टा : अधिकारों की प्रारंभिक नींव

## खंड B - संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र

## खंड C - अंतर्राष्ट्रीय अनुबंध

## खंड D - अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय और अधिकारों का प्रवर्तन

मानवाधिकारों की वैचारिक नींव, उनके दार्शनिक आधार, ऐतिहासिक विकास और पीढ़ियों में उनके वर्गीकरण का अध्ययन करने के बाद, छात्रों को अब सिद्धांत और व्यवहार में मानवाधिकारों के अर्थ की व्यापक समझ प्राप्त हो गई है। इकाई I ने इस बात की जानकारी दी कि प्राचीन नैतिक प्रणालियों से लेकर आधुनिक संवैधानिक गारंटियों तक, समाजों ने ऐतिहासिक रूप से गरिमा, न्याय और निष्पक्षता की अवधारणा कैसे विकसित की है। हमने यह भी देखा कि मानवाधिकार सार्वभौमिक होने के साथ-साथ सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक अनुभवों से भी प्रभावित होते हैं।

द्वितीय इकाई कानूनी और अंतर्राष्ट्रीय दस्तावेजों में अधिकारों के औपचारिक संहिताकरण का पता लगाकर इस आधार को आगे बढ़ाती है। प्रथम इकाई विचारों के विकास पर केंद्रित थी, जबकि द्वितीय इकाई यह जांच करती है कि कैसे इन विचारों को ठोस कानूनी दस्तावेजों में रूपांतरित किया गया, जो राज्य के अधिकार को सीमित करते हैं और व्यक्तियों की रक्षा करते हैं। इसमें मैग्ना कार्टा जैसे महत्वपूर्ण दस्तावेज शामिल हैं, जिसने संप्रभु शक्ति को सीमित करने की प्रारंभिक नींव रखी, साथ ही संयुक्त राष्ट्र की घोषणाओं और संधियों जैसे बाद के अंतर्राष्ट्रीय समझौते भी शामिल हैं। इन दस्तावेजों का अध्ययन करके, छात्र समझेंगे कि कैसे अमूर्त नैतिक सिद्धांत संहिताबद्ध नियमों में परिवर्तित हुए जो आधुनिक समाजों को नियंत्रित करते हैं और अंतर्राष्ट्रीय कानून को आकार देते हैं।

संक्षेप में, इकाई II, इकाई I में खोजे गए मानवाधिकारों के वैचारिक विकास और उन कानूनी और संस्थागत तंत्रों के बीच की खाई को पाटती है जो आज इन अधिकारों को व्यावहारिक बल देते हैं। यह संक्रमण छात्रों को अधिकारों की ऐतिहासिक निरंतरता और लिखित कानून में उनके औपचारिकरण दोनों की सराहना करने की अनुमति देता है, जो अंतर्राष्ट्रीय कानून, अनुबंधों और न्यायिक संस्थानों के गहन अध्ययन के लिए मंच तैयार करता है।

## खंड A – मैग्ना कार्टा : अधिकारों की प्रारंभिक नींव

मानवाधिकारों का इतिहास लंबा और जटिल है, लेकिन कुछ दस्तावेज़ संहिताबद्ध अधिकारों और कानूनी सुरक्षा के विकास में महत्वपूर्ण मोड़ को चिह्नित करते हैं। इनमें से, 1215 का मैग्ना कार्टा संप्रभु शक्ति को सीमित करने और बुनियादी अधिकारों को स्पष्ट करने के शुरुआती औपचारिक प्रयासों में से एक के रूप में एक विशेष स्थान रखता है। मैग्ना कार्टा को समझना आवश्यक है क्योंकि यह कानून के शासन, जवाबदेही और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की सुरक्षा जैसी आधुनिक अवधारणाओं के लिए ऐतिहासिक आधार प्रदान करता है। हालाँकि यह शुरू में समाज के केवल एक संकीर्ण वर्ग – सामंती अभिजात वर्ग – पर लागू होता था, फिर भी इसने नैतिक और कानूनी नींव रखी जो दुनिया भर में संवैधानिक ढाँचों को प्रभावित करती रहती है।मैग्ना कार्टा जिस ऐतिहासिक संदर्भ में सामने आया, उससे इसके महत्व को समझने में

मदद मिलती है। तेरहवीं शताब्दी के आरंभिक इंग्लैंड में राजनीतिक तनाव चरम पर था। राजा जॉन को प्रतिरोध का सामना करना पड़ा, भारी कराधान, मनमानी निर्णयों और सैन्य विफलताओं के कारण शक्तिशाली सामंतों से विद्रोह हो गया था। इनमें से कई सामंत राजा की बेलगाम सत्ता और स्थापित रीति-रिवाजों की अवहेलना से निराश थे। 1215 में, लंबे समय तक चली बातचीत और दबाव के बाद, राजा जॉन एक ऐसे दस्तावेज़ पर सहमत हुए जिसने सामंतों द्वारा माँगी गई कुछ कानूनी गारंटियों के साथ उनकी सत्ता को संतुलित किया। मैग्ना कार्टा मूल रूप से एक समझौता था, जो प्रभावशाली सामाजिक पक्षों के दावों को मान्यता देते हुए व्यवस्था बनाए रखने की आवश्यकता को दर्शाता था। हालाँकि आम जनता को इसके तत्काल संरक्षण से काफी हद तक बाहर रखा गया था, लेकिन मैग्ना कार्टा में निहित सिद्धांत अपने प्रारंभिक संदर्भ से कहीं आगे तक प्रासंगिक बने रहे।

मैग्ना कार्टा के प्रमुख प्रावधानों में शासन और न्याय के कई क्षेत्रों को शामिल किया गया था। इनमें सबसे महत्वपूर्ण था उचित प्रक्रिया की मान्यता। इस दस्तावेज़ में कहा गया था कि किसी भी स्वतंत्र व्यक्ति को मनमाने ढंग से दंडित या उसकी संपत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता; बल्कि इसके लिए कानूनी प्रक्रियाओं और निष्पक्ष निर्णय की आवश्यकता थी। यह सिद्धांत, हालाँकि उस समय चुनिंदा रूप से लागू किया गया था, इस विचार को जन्म दिया कि संप्रभु सत्ता भी नियमों द्वारा सीमित हो सकती है। मैग्ना कार्टा में संपत्ति के अधिकारों और आर्थिक निष्पक्षता से संबंधित सुरक्षा भी शामिल थी, जिसमें यह स्थापित किया गया था कि राजा कुछ विशेष परिस्थितियों में सहमति के बिना संपत्ति जब्त या कर नहीं लगा सकता। इसके अलावा, इसमें नागरिक स्वतंत्रता की प्रारंभिक अवधारणाओं को स्पष्ट किया गया था, जिसमें कुछ व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं की सुरक्षा और शासकों को कम से कम सैद्धांतिक रूप से जवाबदेह ठहराने के तंत्र शामिल थे। हालाँकि ये सुरक्षा सीमित थीं और मुख्य रूप से अभिजात वर्ग को लाभ पहुँचाती थीं, लेकिन ये इस उभरती समझ को दर्शाती थीं कि कानूनी ढाँचे सत्ता को नियंत्रित कर सकते हैं और व्यक्तिगत हितों की रक्षा कर सकते हैं।

मैग्ना कार्टा के तात्कालिक कानूनी निहितार्थों के अलावा, इसने एक नैतिक और दार्शनिक विरासत भी छोड़ी जिसने भविष्य में अधिकारों की अवधारणाओं को आकार दिया। यह दस्तावेज़ निष्पक्षता, न्याय और मनमानी शक्ति पर अंकुश का प्रतीक था। इसने शासकों के अपने अधीन लोगों के प्रति दायित्वों और सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तियों की जिम्मेदारियों पर चर्चा करने के लिए एक नैतिक शब्दावली प्रस्तुत की। इस अर्थ में, मैग्ना कार्टा एक व्यावहारिक और प्रतीकात्मक साधन दोनों था– इसने नैतिक महत्व वाले नियमों को संहिताबद्ध किया, जिससे यह संकेत मिलता है कि न्याय के लिए सत्ता पर सीमाएँ आवश्यक हैं। सदियों से, इसके सिद्धांतों ने 1689 के अंग्रेजी अधिकार विधेयक से लेकर संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान और दुनिया भर के अन्य संवैधानिक ढाँचों तक, विभिन्न राजनीतिक और कानूनी विकासों को प्रभावित किया है। मैग्ना कार्टा में निहित सिद्धांतों ने इस समझ को विकसित करने में योगदान दिया कि अधिकार केवल शासकों द्वारा प्रदत्त विशेषाधिकार नहीं हैं, बल्कि नैतिक और कानूनी मानक हैं जो मानवीय गरिमा की रक्षा करते हैं। मैग्ना कार्टा कानून और सामाजिक संरचनाओं के बीच अंतःक्रिया का पता लगाने का अवसर भी प्रदान करता है। हालाँकि शुरू में यह विशिष्ट था, लेकिन इसका व्यापक महत्व यह प्रदर्शित करने में निहित है कि कानूनी सुरक्षा और अधिकार बातचीत, समझौता और सामाजिक संघर्ष से उभर सकते हैं। इसने ऐसे मानदंडों को स्थापित करने के महत्व पर प्रकाश डाला जो अधिकार और जवाबदेही को संतुलित करते हैं, एक ऐसा विषय जो आधुनिक मानवाधिकार चर्चाओं में केंद्रीय बना हुआ है। विद्वान इस बात पर जोर देते हैं कि दस्तावेज़ का प्रभाव धीरे-धीरे हुआ, क्योंकि इसके सिद्धांतों को सदियों से व्यापक आबादी और अधिक व्यापक अधिकारों को शामिल करने के लिए अनुकूलित,

पुनर्व्याख्यायित और विस्तारित किया गया था। समकालीन संदर्भों में, यह अभिजात वर्ग की सुरक्षा से सार्वभौमिक सिद्धांतों तक अधिकारों के विकास को दर्शाता है, जो मानवाधिकार अवधारणाओं की गतिशील प्रकृति को रेखांकित करता है।

विद्यार्थियों के लिए मैग्ना कार्टा को न केवल एक ऐतिहासिक धरोहर के रूप में बल्कि आधुनिक लोकतांत्रिक विचारों की नींव के रूप में देखना उपयोगी है। उचित प्रक्रिया, मनमानी सत्ता से सुरक्षा और कानूनी जवाबदेही पर जोर देना भारतीय संविधान और अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार ढाँचों सहित समकालीन कानूनी प्रणालियों को आज भी प्रभावित करता है। इसके अलावा, मैग्ना कार्टा यह सिखाता है कि अधिकार अक्सर बातचीत, पैरवी और सत्ता संरचनाओं के साथ निरंतर जुड़ाव का परिणाम होते हैं। इसकी स्थायी विरासत यह दर्शाती है कि सीमित सुरक्षा भी, जब संहिताबद्ध और सम्मानित की जाती है, तो समय के साथ अधिक व्यापक अधिकार व्यवस्थाओं का आधार बन सकती है।

संक्षेप में, मैग्ना कार्टा उन कानूनी और नैतिक सिद्धांतों की प्रारंभिक अभिव्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है जो आधुनिक मानवाधिकार विमर्श की नींव हैं। यह दर्शाता है कि कैसे ऐतिहासिक घटनाएँ, सामाजिक दबाव और राजनीतिक वार्ताएँ ऐसे ढाँचे तैयार कर सकती हैं जो व्यक्तियों की रक्षा करते हैं और सत्ता को सीमित करते हैं। यद्यपि इसका तात्कालिक दायरा सीमित था, न्याय, निष्पक्षता और विधि के शासन के विचारों पर इसका दीर्घकालिक प्रभाव गहरा रहा है। मैग्ना कार्टा का अध्ययन करके, छात्र मानवाधिकारों की ऐतिहासिक जड़ों की जानकारी प्राप्त करते हैं, कानूनी सुरक्षा के विकास को समझते हैं और यह जान पाते हैं कि निष्पक्षता के लिए प्रारंभिक संघर्ष किस प्रकार समकालीन शासन और अंतर्राष्ट्रीय मानदंडों को आकार देना जारी रखते हैं।

## खंड B – संयुक्त राष्ट्र घोषणाएँ

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद का समय मानवाधिकारों की वैश्विक समझ में एक महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुआ। अत्याचारों की भयावहता, विशेष रूप से होलोकॉस्ट, ने एक सार्वभौमिक ढाँचे की तत्काल आवश्यकता को रेखांकित किया जो मानवीय गरिमा की रक्षा कर सके, बड़े पैमाने पर होने वाले उल्लंघनों को रोक सके और जवाबदेही के लिए तंत्र स्थापित कर सके। 1945 में नवगठित संयुक्त राष्ट्र ने मानवाधिकार सिद्धांतों को संहिताबद्ध करने और विश्वभर के देशों के लिए एक मानक मार्गदर्शक प्रदान करने वाले अंतर्राष्ट्रीय दस्तावेजों का निर्माण करके इन चिंताओं को दूर करने का प्रयास किया। इन दस्तावेजों में, मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (यूएचडीआर) एक मूलभूत दस्तावेज के रूप में खड़ी है, जो नैतिक तर्क, ऐतिहासिक अनुभव और उभरते कानूनी मानदंडों को जोड़कर मानवीय गरिमा और अधिकारों की एक साझा दृष्टि को व्यक्त करती है।(मोर्सिंक, 1999)

### B1. यूरोपीय मानवाधिकार अधिनियम की उत्पत्ति और मसौदा तैयार करना

मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की उत्पत्ति को अभूतपूर्व विनाश और नैतिक संकट से जूझ रही दुनिया के संदर्भ में समझना आवश्यक है। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद, यह व्यापक रूप से स्वीकार किया गया कि मौजूदा राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय तंत्र युद्ध अपराधों, नरसंहारों और बड़े पैमाने पर मानवीय पीड़ा को रोकने में विफल रहे थे। मौलिक अधिकारों को सार्वभौमिक रूप से परिभाषित और संरक्षित करने वाले दस्तावेज़ का मसौदा तैयार करने के लिए

संयुक्त राष्ट्र मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की स्थापना की गई थी। इसका उद्देश्य नैतिक, दार्शनिक और कानूनी परंपराओं को एक सुसंगत ढाँचे में समेकित करना था जिसे वैश्विक स्वीकृति मिल सके। (मोर्सिंक, 1999)

मसौदा तैयार करने की प्रक्रिया में कई उल्लेखनीय व्यक्तियों ने भाग लिया, जिन्होंने विविध दृष्टिकोण और विशेषज्ञता प्रस्तुत की। आयोग की अध्यक्षता करने वाली एलेनोर रूजवेल्ट ने यह सुनिश्चित करने में केंद्रीय भूमिका निभाई कि दस्तावेज़ किसी एक राज्य या क्षेत्र की प्राथमिकताओं के बजाय सार्वभौमिक सिद्धांतों को प्रतिबिंबित करे। चीनी दार्शनिक और राजनयिक पी.सी. चांग ने भी इसमें महत्वपूर्ण योगदान दिया।नैतिक परंपराओं और पश्चिमी कानूनी चिंतन के संयोजन से अंतर-सांस्कृतिक सामंजस्य सुनिश्चित हुआ। फ्रांसीसी न्यायविद रेने कैसिन ने स्पष्टता, सुसंगति और कानूनी सुगमता प्राप्त करने के लिए घोषणापत्र की संरचना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनके संयुक्त प्रयासों से यह सुनिश्चित हुआ कि मानवाधिकार संघ केवल एक प्रतीकात्मक बयान नहीं बल्कि एक व्यावहारिक साधन बन गया जो कानून, नीति और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का मार्गदर्शन करने में सक्षम है। मोर्सिंक (1999) इस बात पर जोर देते हैं कि यह प्रक्रिया परामर्शपूर्ण थी, जिसमें तुलनात्मक संविधानों, दार्शनिक लेखों और विशेषज्ञों के सुझावों का उपयोग किया गया, जो वैधता और सार्वभौमिकता स्थापित करने के सुनियोजित प्रयास को दर्शाता है।

इस विधेयक के मसौदा तैयार करने के ऐतिहासिक संदर्भ ने भी इसकी विषयवस्तु को आकार दिया। हाल ही में राष्ट्रों ने अनियंत्रित संप्रभुता की विफलताओं को देखा था, जहाँ राज्य शक्ति का दुरुपयोग करके बुनियादी मानवीय गरिमा का उल्लंघन किया गया था। मानवाधिकार संघ इन्हीं विफलताओं के प्रति प्रतिक्रिया स्वरूप अस्तित्व में आया, जिसमें शक्ति पर सीमाओं, जवाबदेही और व्यक्तिगत अधिकारों तथा सामूहिक कल्याण के बीच संतुलन बनाए रखने की आवश्यकता पर बल दिया गया। नागरिक-राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक अधिकारों को शामिल करना इस बात की मान्यता को दर्शाता है कि मानवीय गरिमा में अनेक आयाम समाहित हैं, और उत्पीड़न तथा असमानता को रोकने के लिए इन सभी आयामों की रक्षा करना आवश्यक है।

### B2. UDHR के सिद्धांत और कार्यक्षेत्र

मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (UDHR) मानव जीवन के नागरिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आयामों को समाहित करने वाले अधिकारों का एक व्यापक समूह प्रस्तुत करता है। यह घोषणा करता है कि सभी व्यक्ति गरिमा और अधिकारों में स्वतंत्र और समान पैदा होते हैं, एक ऐसा सिद्धांत जो प्रत्येक व्यक्ति के अंतर्निहित मूल्य को रेखांकित करता है। यह घोषणा स्वीकार करती है कि मनुष्यों को मनमाने ढंग से जीवन, स्वतंत्रता या सुरक्षा से वंचित नहीं किया जाना चाहिए, और यह कानून के समक्ष समानता के महत्व पर बल देती है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, शासन में भागीदारी और भेदभाव से सुरक्षा जैसे नागरिक और राजनीतिक अधिकार, शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य सेवा और जीवन स्तर के पर्याप्त स्तर तक पहुँच सहित आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों द्वारा पूरक हैं।(मोहंती, 2002)

UDHR का एक प्रमुख सिद्धांत सार्वभौमिकता है। अधिकार राष्ट्रीयता, जातीयता, लिंग या धर्म पर निर्भर नहीं होते; वे सभी मनुष्यों के हैं। यह दस्तावेज़ अविभाज्यता पर भी बल देता है, जिसका अर्थ है कि किसी भी अधिकार का पूर्ण रूप से दूसरों से अलग रहकर आनंद नहीं लिया जा सकता। आर्थिक सुरक्षा से वंचित होने पर नागरिक स्वतंत्रताएँ अर्थहीन हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कानूनी सुरक्षा उपायों के बिना शिक्षा और सामाजिक सुरक्षा तक पहुँच अप्रभावी हो

जाती है। इस प्रकार, मानवाधिकार अधिनियम नैतिक तर्क और कानूनी मान्यता के बीच सेतु का काम करता है, और एक ऐसा ढाँचा प्रदान करता है जो नैतिक आदर्शों को लागू करने योग्य मानदंडों से जोड़ता है।

यह घोषणा आकांक्षा और व्यावहारिकता के बीच एक सावधानीपूर्वक संतुलन को भी दर्शाती है। यह निष्पक्षता और गरिमा के आदर्श मानकों को स्पष्ट करते हुए, ऐसा इस प्रकार करती है कि राष्ट्र विविधता और संप्रभुता का सम्मान करते हुए इन सिद्धांतों को अपनी कानूनी प्रणालियों में शामिल कर सकें। विद्वानों का मानना है कि UDHR एक नैतिक दिशा-निर्देश प्रदान करता है जो कानून निर्माण, न्यायिक व्याख्या और प्रशासनिक नीति का मार्गदर्शन करता है, जिससे सरकारों को घरेलू कानून को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त मानवाधिकार मानदंडों के अनुरूप बनाने में मदद मिलती है।(त्रिपाठी, 2019)

**B3. राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कानून पर प्रभाव**

UDHR का प्रभाव अंतरराष्ट्रीय स्तर पर और राष्ट्रीय न्यायक्षेत्रों के भीतर दोनों जगह गहरा रहा है। उदाहरण के लिए, भारत में इसके सिद्धांतों ने संविधान के मसौदे को प्रभावित किया, विशेष रूप से मौलिक अधिकारों और राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों को। मौलिक अधिकार नागरिक और राजनीतिक स्वतंत्रता को सुनिश्चित करते हैं, जिनमें कानून के समक्ष समानता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और भेदभाव से सुरक्षा शामिल हैं, जो UDHR के मानकों के अनुरूप हैं। निर्देशक सिद्धांत सामाजिक और आर्थिक अधिकारों की दृष्टि को व्यापक बनाते हैं, और सभी नागरिकों के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य और आजीविका तक पहुँच को बढ़ावा देते हैं। इस प्रकार, UDHR वैश्विक मानदंडों और घरेलू कानून के बीच एक सेतु का काम करता है, जिससे अमूर्त आदर्शों को ठोस सुरक्षा में बदलने में मदद मिलती है। (मोहंती, 2002)

वैश्विक स्तर पर, UDHR ने बाद के अंतर्राष्ट्रीय समझौतों, विशेष रूप से नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय समझौता और आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय समझौता, के लिए आधार प्रदान किया। ये समझौते घोषणा के महत्वाकांक्षी सिद्धांतों को कानूनी रूप से बाध्यकारी दायित्वों में परिवर्तित करते हैं, रिपोर्टिंग, निगरानी और प्रवर्तन के लिए तंत्र बनाते हैं। ये इस सिद्धांत का भी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि मानवाधिकार गतिशील होते हैं, जो बदलते सामाजिक, आर्थिक और तकनीकी संदर्भों के अनुरूप होते हैं। घोषणा का प्रभाव क्षेत्रीय मानवाधिकार दस्तावेजों, न्यायिक व्याख्याओं और यहाँ तक कि विभिन्न देशों में घरेलू नीति सुधारों तक फैला हुआ है, जो इसकी स्थायी प्रासंगिकता को दर्शाता है।

इसके अलावा, मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा यह दर्शात है कि मानवाधिकार ऐतिहासिक और सांस्कृतिक रूप से प्रभावित होते हैं। यह दार्शनिक परंपराओं, ऐतिहासिक अनुभव और नैतिक चिंतन का एक संश्लेषण है, और इसके सिद्धांत पर्यावरण संरक्षण, लैंगिक समानता और डिजिटल गोपनीयता से संबंधित नए अधिकार ढाँचों के विकास का मार्गदर्शन करते रहते हैं। जैसा कि त्रिपाठी (2019) ने कहा है, मानवाधिकार अधिनियम (UDHR) इस समझ को समाहित करता है कि गरिमा की रक्षा पारंपरिक और उभरते दोनों संदर्भों में की जानी चाहिए, जो समय और स्थान की सीमाओं से परे न्याय, निष्पक्षता और समानता के प्रति प्रतिबद्धता को दर्शाता है।

निष्कर्षतः, मानवाधिकार संहिता (UDHR) पर आधारित संयुक्त राष्ट्र की घोषणाएँ मानवाधिकारों के संहिताकरण और वैश्विक मान्यता में एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर हैं। सिद्धांतों के एक व्यापक समूह को स्पष्ट करके और प्रभाव एवं प्रवर्तन के लिए तंत्र स्थापित करके, ये मानवाधिकारों के नैतिक, कानूनी और सामाजिक आयामों को जोड़ती हैं। छात्रों

के लिए, UDHR की उत्पत्ति, मसौदा तैयार करने, सिद्धांतों और प्रभाव को समझना आधुनिक मानवाधिकारों के विकास की जानकारी प्रदान करता है और राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय नीति दोनों के मार्गदर्शन में इन सिद्धांतों की निरंतर प्रासंगिकता को उजागर करता है। (मोर्सिंक, 1999; मोहंती, 2002; SAHRDC, 2006; त्रिपाठी, 2019)

## खंड C – अंतर्राष्ट्रीय अनुबंध

मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा को अपनाने के बाद, अंतर्राष्ट्रीय समुदाय ने इसके सिद्धांतों को कानूनी रूप से बाध्यकारी दस्तावेजों में परिवर्तित करने की आवश्यकता को पहचाना। इसके परिणामस्वरूप 1966 में दो महत्वपूर्ण संधियों का मसौदा तैयार हुआ– नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय समझौता (आईसीसीपीआर) और आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय समझौता (आईसीईएससीआर)। मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के साथ मिलकर, ये समझौते मानवाधिकारों के अंतर्राष्ट्रीय विधेयक का निर्माण करते हैं और राज्यों को सार्वभौमिक मानवाधिकार सिद्धांतों को लागू करने योग्य दायित्वों में बदलने के लिए एक ढाँचा प्रदान करते हैं। ये नैतिक और नीतिगत प्रतिबद्धताओं के घोषणात्मक कथनों से लेकर उन संधियों तक एक महत्वपूर्ण विकास का प्रतिनिधित्व करते हैं जो सदस्य राज्यों के लिए कानूनी रूप से बाध्यकारी कर्तव्य स्थापित करती हैं।

### C1. नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय समझौता (ICCPR)

ICCPR नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की सुरक्षा पर केंद्रित है, जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक शासन में भागीदारी के लिए आवश्यक हैं। इसमें जीवन, स्वतंत्रता और व्यक्तिगत सुरक्षा के अधिकार के साथ-साथ अभिव्यक्ति, सभा, संगठन और धर्म की स्वतंत्रता जैसे अधिकार निहित हैं। इसके अतिरिक्त, यह सार्वजनिक मामलों में भाग लेने और स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनावों में मतदान करने के अधिकार सहित राजनीतिक अधिकारों की रक्षा करता है। ये प्रावधान उदार लोकतांत्रिक परंपरा को दर्शाते हैं जो व्यक्तिगत स्वायत्तता, कानून के शासन और नागरिकों के प्रति राज्य की जवाबदेही पर जोर देती है। (त्रिपाठी, 2019)

ICCPR केवल घोषणात्मक नहीं है– इसमें निगरानी और प्रवर्तन के तंत्र भी शामिल हैं। इस संधि के तहत स्थापित मानवाधिकार समिति, राज्य रिपोर्टों की समीक्षा करती है, सिफारिशें जारी करती है और उन मामलों में व्यक्तिगत शिकायतों पर विचार करती है जहाँ राज्यों ने संबंधित वैकल्पिक प्रोटोकॉल को मान्यता दी है। यह प्रणाली अंतरराष्ट्रीय स्तर पर जवाबदेही सुनिश्चित करती है, जिससे राज्यों को अपने घरेलू कानून और नीति को संधि दायित्वों के अनुरूप बनाने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। संधि की बाध्यकारी प्रकृति यह सुनिश्चित करती है कि नागरिक और राजनीतिक अधिकारों को केवल आदर्शवादी विचार न माना जाए, बल्कि ऐसे लागू करने योग्य मानकों के रूप में देखा जाए जिनका राज्यों को कानूनी रूप से सम्मान, संरक्षण और पालन करना अनिवार्य है। (मोर्सिंक, 1999)

### C2. आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय समझौता (ICESCR)

ICCPR के पूरक के रूप में, ICESCR आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों को स्पष्ट करता है, यह मानते हुए कि मानवीय गरिमा न केवल स्वतंत्रता और राजनीतिक भागीदारी पर निर्भर करती है, बल्कि आवश्यक संसाधनों और अवसरों तक पहुँच पर भी निर्भर करती है। यह समझौता शिक्षा, स्वास्थ्य, काम और सामाजिक सुरक्षा के अधिकारों की गारंटी देता है, इन्हें जीवन और स्वतंत्रता के आनंद के लिए आवश्यक मानता है। नागरिक और राजनीतिक अधिकारों

के विपरीत, जिनके लिए तत्काल कार्यान्वयन की आवश्यकता होती है, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार "प्रगतिशील प्राप्ति" के सिद्धांत के अधीन हैं, यह स्वीकार करते हुए कि इन अधिकारों का पूर्ण आनंद संसाधनों और विकासात्मक प्राथमिकताओं के आधार पर समय ले सकता है।

इस लचीलेपन के बावजूद, राज्यों को इन अधिकारों को साकार करने और यह सुनिश्चित करने के लिए सुविचारित और ठोस कदम उठाने होंगे कि भेदभाव किसी को भी इन अधिकारों तक पहुँचने से न रोके। ICESCR सामाजिक कल्याण प्राप्त करने में व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार की ज़िम्मेदारी पर ज़ोर देता है, जो इस मान्यता को दर्शाता है कि आर्थिक और सामाजिक अधिकार व्यापक सामाजिक संरचनाओं से अविभाज्य हैं। इस अर्थ में, यह समझौता मानवाधिकार कानून में एक विकास का प्रतिनिधित्व करता है, जो नैतिक अनिवार्यताओं को कानूनी दायित्वों से जोड़ता है और न्याय, समानता और निष्पक्षता के सिद्धांतों को सार्वजनिक नीति में एकीकृत करता है।

### C3. वैकल्पिक प्रोटोकॉल और अधिकारों का विस्तार

समय के साथ, दोनों समझौतों को वैकल्पिक प्रोटोकॉल द्वारा पूरक किया गया है जो उनकी पहुँच का विस्तार करते हैं और प्रवर्तन तंत्र को मजबूत करते हैं। उदाहरण के लिए, ICCPR का वैकल्पिक प्रोटोकॉल व्यक्तियों को मानवाधिकार समिति को शिकायतें प्रस्तुत करने की अनुमति देता है यदि उनके अधिकारों का उल्लंघन किया गया है और घरेलू उपचार समाप्त हो गए हैं। ICESCR के लिए समान प्रोटोकॉल जवाबदेही बढ़ाते हैं और राज्यों द्वारा सामाजिक-आर्थिक अधिकारों के कार्यान्वयन की अंतर्राष्ट्रीय जाँच को सक्षम बनाते हैं।

मानवाधिकार संबंधी उभरते क्षेत्रों को शामिल करने के लिए संधियों का स्वरूप भी विकसित हुआ है। अल्पसंख्यकों के अधिकार, विकलांग व्यक्तियों के अधिकार और अन्य विशेष सुरक्षा उपायों को संशोधनों और पूरक संधियों के माध्यम से लगातार संबोधित किया जा रहा है। ये विकास अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून की गतिशील प्रकृति को दर्शाते हैं, जिससे पता चलता है कि संधियाँ स्थिर कानूनी उपकरण नहीं हैं, बल्कि जीवंत ढाँचे हैं जो सामाजिक परिवर्तनों, तकनीकी प्रगति और भेद्यता के नए रूपों की पहचान के अनुरूप ढलते हैं। (मोहंती, 2002; SAHRDC, 2006)

### C4. भारतीय संदर्भ

ICPPR और ICESCR में निहित सिद्धांत भारतीय संविधान के साथ घनिष्ठ रूप से मेल खाते हैं। ICESCR के तहत संरक्षित नागरिक और राजनीतिक अधिकार संविधान के तीसरे भाग में दिए गए मौलिक अधिकारों के अनुरूप हैं, जिनमें विधि के समक्ष समानता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और मनमानी रूप से स्वतंत्रता से वंचित किए जाने के विरुद्ध संरक्षण शामिल हैं। आईसीईएससीआर में परिलक्षित आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों में व्यक्त किए गए हैं, जिनका उद्देश्य सभी नागरिकों को शिक्षा, स्वास्थ्य और पर्याप्त जीवन स्तर प्रदान करना है।

भारत का दोहरा समावेशन दृष्टिकोण यह सुनिश्चित करता है कि अंतर्राष्ट्रीय मानक घरेलू संवैधानिक प्रावधानों के साथ सामंजस्य स्थापित करें, जिससे एक ऐसा ढाँचा तैयार होता है जहाँ वैश्विक मानवाधिकार मानदंड राष्ट्रीय कानून को निर्देशित करते हैं। भारत में न्यायालयों ने संवैधानिक प्रावधानों की व्याख्या करने के लिए अक्सर अंतर्राष्ट्रीय समझौतों का सहारा लिया है, विशेष रूप से नागरिक स्वतंत्रता, समानता और सामाजिक-आर्थिक न्याय से जुड़े मामलों में। यह सामंजस्य दर्शाता है कि अंतर्राष्ट्रीय समझौते, हालाँकि बहुपक्षीय वार्ता से उत्पन्न होते हैं, घरेलू शासन, नीति निर्माण और कानूनी व्याख्या पर ठोस प्रभाव डालते हैं।(त्रिपाठी, 2019, SAHRDC, 2006)

निष्कर्षतः, आईसीसीपीआर और आईसीईएससीआर मानवाधिकार संघ में प्रतिपादित सिद्धांतों का कानूनी स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। ये संधियाँ राज्यों को मानवाधिकारों का सम्मान करने, उनकी रक्षा करने और उन्हें पूरा करने के लिए बाध्य करती हैं, साथ ही जवाबदेही और प्रवर्तन के लिए तंत्र भी प्रदान करती हैं। वैकल्पिक प्रोटोकॉल और उभरते अधिकारों की मान्यता बदलती वैश्विक परिस्थितियों के अनुरूप इन संधियों की अनुकूलनशीलता को उजागर करती है। भारत में, इनका प्रभाव संवैधानिक कानून, न्यायिक व्याख्या और नीतिगत ढाँचों में स्पष्ट है, जो अंतर्राष्ट्रीय दायित्वों और घरेलू कार्यान्वयन के बीच परस्पर संबंध को दर्शाता है। इन संधियों को समझने से छात्रों को नैतिक आदर्शों से बाध्यकारी कानूनी संधियों तक मानवाधिकारों के विकास को समझने में मदद मिलती है, साथ ही समकालीन शासन और सामाजिक विकास में उनकी निरंतर प्रासंगिकता को भी मान्यता मिलती है।

## खंड D – अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय और अधिकारों का प्रवर्तन

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय, जिसकी स्थापना 1945 में संयुक्त राष्ट्र के प्रमुख न्यायिक अंग के रूप में हुई थी, राज्यों के बीच विवादों के शांतिपूर्ण समाधान और अंतर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या में केंद्रीय भूमिका निभाता है। मानवाधिकार घोषणाओं या संधियों के विपरीत, जो मुख्य रूप से मानक और दायित्व स्थापित करती हैं, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय एक न्यायिक निकाय के रूप में कार्य करता है जिससे विवादों का निपटारा करने और अंतर्राष्ट्रीय कानून के अंतर्गत कानूनी मामलों पर आधिकारिक मार्गदर्शन प्रदान करने का अधिकार प्राप्त है। इसके जनादेश में अंतर-राज्यीय संघर्षों का समाधान, संधियों की व्याख्या और संयुक्त राष्ट्र के अंगों और विशेष एजेंसियों को सलाहकारी राय प्रदान करना शामिल है, जिससे यह कानूनी दायित्वों को स्पष्ट करके और अंतर्राष्ट्रीय मानदंडों के अनुपालन को बढ़ावा देकर अप्रत्यक्ष रूप से अधिकारों के प्रवर्तन में योगदान देता है।

अंतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण का अधिकार क्षेत्र स्वैच्छिक और सहमतिपूर्ण है, जिसका अर्थ है कि राज्यों को इसके अधिकार को स्वीकार करना होगा। यह सिद्धांत राज्य की संप्रभुता के सम्मान को सुनिश्चित करता है और साथ ही एक ऐसा मंच भी प्रदान करता है जहाँ विवादों का समाधान शांतिपूर्ण ढंग से किया जा सकता है, न कि बल प्रयोग या संघर्ष के माध्यम से। न्यायालय का अधिकार क्षेत्र कई मामलों तक फैला हुआ है, जिनमें क्षेत्रीय विवाद, समुद्री सीमाएँ, संधि व्याख्या और शत्रुतापूर्ण गतिविधियों से संबंधित प्रश्न शामिल हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि आईसीजे व्यक्तिगत शिकायतों के समाधान के लिए नहीं बनाया गया है, बल्कि यह राज्य की उत्तरदायित्व के स्तर पर कार्य करता है, जो इसे आईसीसीपीआर के तहत मानवाधिकार समिति जैसे तंत्रों से अलग करता है। फिर भी, इसके निर्णयों का अक्सर मानवाधिकार संरक्षण पर गहरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि ये राज्यों के दायित्वों को स्पष्ट करते हैं और ऐसे कानूनी मिसालें कायम करते हैं जो घरेलू कानून और नीति को प्रभावित करते हैं। (एसएएचआरडीसी, 2006: त्रिपाठी, 2019)

कई महत्वपूर्ण मामले अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकारों और विधि के शासन पर अंतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण के प्रभाव को दर्शाते हैं। उदाहरण के लिए, परमाणु हथियारों की वैधता और अधिकृत क्षेत्रों में अवरोधों के निर्माण पर न्यायालय की सलाहकारी राय ने राज्य की कार्रवाइयों, मानवीय कानून और मानवाधिकारों के संरक्षण के बीच परस्पर संबंध को उजागर किया है। हालाँकि सलाहकारी राय कानूनी रूप से बाध्यकारी नहीं होती हैं, लेकिन इनका नैतिक और राजनीतिक महत्व काफी अधिक होता है, जो आईसीसीपीआर और आईसीईएससीआर जैसी संधियों के तहत अपने दायित्वों की व्याख्या करने में राज्यों का मार्गदर्शन करती हैं। 1980 के दशक में निकारागुआ और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच विवाद जैसे

विवादास्पद मामलों में, आईसीजे के निर्णयों ने मानवाधिकारों के उपभोग को प्रभावित करने वाले सिद्धांतों सहित अंतरराष्ट्रीय कानून के उल्लंघन के लिए राज्यों को जवाबदेह ठहराने की न्यायालय की क्षमता को रेखांकित किया। ये उदाहरण दर्शाते हैं कि यद्यपि आईसीजे मुख्य रूप से अंतर-राज्यीय मुद्दों को संबोधित करता है, फिर भी इसका न्यायशास्त्र जवाबदेही, वैधता और अंतरराष्ट्रीय दायित्वों के पालन को बढ़ावा देकर अप्रत्यक्ष रूप से मानवाधिकार ढाँचे को सुदृढ़ करता है।

अपने न्यायिक जनादेश के बावजूद, न्यायालय को कुछ सीमाओं और चुनौतियों का सामना करना पड़ता है जो अधिकारों के प्रवर्तन को प्रभावित करती हैं। इनमें सबसे प्रमुख है अनुपालन की चुनौती; न्यायालय के पास राज्यों को अपने निर्देशों का पालन करने के लिए बाध्य करने का कोई प्रत्यक्ष साधन नहीं है। प्रवर्तन राज्यों की राजनीतिक इच्छाशक्ति पर निर्भर करता है और विशेष रूप से संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद पर। यह सीमा पूरक राष्ट्रीय कानूनी प्रणालियों के महत्व को उजागर करती है, जो स्थानीय क्षेत्राधिकारों के भीतर अंतरराष्ट्रीय निर्णयों को प्रभावी बना सकती हैं। उदाहरण के लिए, जब निर्णय संधि दायित्वों को स्पष्ट करते हैं, तो राष्ट्रीय न्यायालय इन व्याख्याओं को स्थानीय कानूनी ढाँचों में एकीकृत कर सकते हैं, जिससे मानवाधिकार मानकों की व्यावहारिक प्रवर्तनीयता में वृद्धि होती है। न्यायालय की न्यायिक बाधाओं से उत्पन्न एक अन्य चुनौती राज्यों की सहमति के बिना विवादों को जटिल बनाती है, जिससे प्रभावित पक्षों के बीच समझौते के अभाव में तत्काल या व्यापक उल्लंघनों को संबोधित करना मुश्किल हो जाता है।(मोहंती, 2002; त्रिपाठी, 2019)

अंतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण (आईसीजे) का कार्य द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के युग में अंतर्राष्ट्रीय कानून के बदलते स्वरूप को भी दर्शाता है। न्यायिक व्याख्या और आधिकारिक मार्गदर्शन प्रदान करके, न्यायालय मानवाधिकार समझौतों में अस्पष्टताओं को दूर करने, राज्यों के दायित्वों को स्पष्ट करने और नियम-आधारित अंतर्राष्ट्रीय शासन की संस्कृति को बढ़ावा देने में सहायता करता है। यद्यपि यह घरेलू संस्थानों का स्थान नहीं ले सकता या व्यक्तियों के लिए मानवाधिकार न्यायाधिकरण के रूप में कार्य नहीं कर सकता, इसके निर्णयों का मानक महत्व है, जो प्रथागत अंतर्राष्ट्रीय कानून और व्यापक अंतर्राष्ट्रीय कानूनी व्यवस्था के विकास में योगदान देता है। इसलिए, आईसीजे विवाद-समाधान तंत्र और कानूनी जवाबदेही के प्रति अंतर्राष्ट्रीय समुदाय की प्रतिबद्धता के प्रतीक दोनों के रूप में कार्य करता है, जो सर्वप्रथम सिद्धांतों को सुदृढ़ करता है। इसे UDHR जैसे दस्तावेजों में व्यक्त किया गया है और आईसीसीपीआर और आईसीईएससीआर जैसे समझौतों में विस्तारित किया गया है।

निष्कर्षतः, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार प्रणाली के न्यायिक आयाम का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसका अधिकार क्षेत्र, कानूनी मामले और सलाहकारी राय एक ऐसा ढाँचा प्रदान करते हैं जिसके भीतर राज्यों के कानूनी दायित्वों को स्पष्ट किया जा सकता है और विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से हल किया जा सकता है। हालाँकि प्रवर्तन और राज्य अनुपालन की चुनौतियाँ बनी हुई हैं, अंतर्राष्ट्रीय कानून के तहत अधिकारों और दायित्वों की व्याख्या के लिए एक मंच प्रदान करके अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय घोषणाओं और समझौतों का पूरक है। इसके जनादेश, महत्व और सीमाओं को समझने से छात्रों को मानवाधिकार संरक्षण की बहुआयामी प्रकृति को समझने में मदद मिलती है, जो नैतिक प्रतिबद्धता, कानूनी रूप से बाध्यकारी साधनों और न्यायिक निगरानी के संयोजन पर निर्भर करती है ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि अधिकार केवल आकांक्षात्मक न होकर, अंतर्राष्ट्रीय कानूनी व्यवस्था के भीतर क्रियात्मक हों। (त्रिपाठी, 2019; SAHRDC, 2006; मोहंती, 2002)

## खंड E – विकासवादी अवलोकन और समकालीन प्रासंगिकता

अंतर्राष्ट्रीय ढाँचे के भीतर मानवाधिकारों का अध्ययन प्रारंभिक संहिताबद्ध विशेषाधिकारों से लेकर आधुनिक सार्वभौमिक अधिकारों तक एक उल्लेखनीय निरंतरता को दर्शाता है। 1215 के मैग्ना कार्टा से लेकर मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा और बाद के समझौतों को अपनाने तक, अधिकारों का विकास एक ऐसे मार्ग को दर्शाता है जो एक संकीर्ण अभिजात वर्ग के लिए चयनात्मक संरक्षण से लेकर सभी मनुष्यों की गरिमा की पुष्टि करने वाले व्यापक रूप से मान्यता प्राप्त सिद्धांतों तक जाता है। मैग्ना कार्टा ने इस अवधारणा को प्रस्तुत किया कि संप्रभु सत्ता को कानून द्वारा सीमित किया जा सकता है, जिससे कानूनी संरक्षण और जवाबदेही की नींव रखी गई जिसने बाद के संविधानों और घोषणाओं को प्रभावित किया। सदियों से, दार्शनिक तर्क, नैतिक प्रतिबद्धताओं और सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों से प्रभावित होकर, इन प्रारंभिक विचारों का विस्तार हुआ, और अंततः अधिकारों की आधुनिक अवधारणा को सार्वभौमिक, अविभाज्य और अटूट के रूप में विकसित करने में योगदान दिया। (त्रिपाठी, 2019; मोहंती, 2002)

समय के साथ सिद्धांतों की निरंतरता मानवाधिकारों के नैतिक और कानूनी दोनों आयामों को उजागर करती है। जहाँ प्रारंभिक दस्तावेजों का मुख्य ध्यान नागरिक और राजनीतिक स्वतंत्रता पर था, वहीं बाद के अंतर्राष्ट्रीय घोषणाओं और समझौतों ने सामूहिक अधिकारों के साथ-साथ आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों को भी शामिल करने के लिए दायरे को व्यापक बनाया। संयुक्त राष्ट्र की घोषणाएँ, विशेष रूप से मानवाधिकार संघ (UDHR), ऐतिहासिक अनुभव की परिणति का प्रतिनिधित्व करती हैं, जो नैतिक तर्क को कानूनी मान्यता के साथ जोड़ते हुए सार्वभौमिक सिद्धांतों के एक समूह को संहिताबद्ध करती हैं। समकालीन मानवाधिकारों को इस ऐतिहासिक निरंतरता के संदर्भ में रखकर, छात्र यह समझ सकते हैं कि निष्पक्षता, न्याय और मनमानी शक्ति से सुरक्षा जैसे मूल विचार समय के साथ समाज की बदलती जरूरतों को पूरा करने के लिए कैसे बने रहे, अनुकूलित हुए और विस्तारित हुए। (मोर्सिंक, 1999; SAHRDC, 2006)

वैश्वीकरण ने मानवाधिकारों के विकास और प्रासंगिकता को और भी तीव्र गति प्रदान की है। परस्पर जुड़े विश्व में, पर्यावरण संरक्षण, डेटा गोपनीयता, तकनीकी नैतिकता और अंतर्राष्ट्रीय विकास संबंधी चुनौतियाँ जैसे मुद्दे मानवाधिकारों के विमर्श के केंद्र में आ गए हैं। त्रिपाठी (2019) जैसे विद्वान नए क्षेत्रों में अधिकारों के विस्तार के महत्व पर प्रकाश डालते हैं, यह मानते हुए कि आधुनिक संदर्भों में मानवीय गरिमा से नए तरीकों से समझौता किया जा सकता है। इसी प्रकार, बक्सी (2002) का कहना है कि वैश्वीकरण और बाजार एकीकरण के कारण अधिकारों के ढाँचों की पुनर्परीक्षा आवश्यक हो गई है, विशेष रूप से आर्थिक न्याय और सार्वजनिक संसाधनों तक पहुँच जैसे क्षेत्रों में।ये विकास अधिकारों की मूल सामग्री का विस्तार करते हुए, जवाबदेही, निष्पक्षता और कानून के शासन जैसे ऐतिहासिक सिद्धांतों की निरंतर प्रासंगिकता पर भी जोर देते हैं, यह दर्शाते हुए कि आधुनिक अधिकार अपने ऐतिहासिक पूर्ववृत्तों से अलग नहीं हैं, बल्कि स्थायी नैतिक और कानूनी प्रतिबद्धताओं का एक स्वाभाविक विस्तार हैं।

विकासवादी परिप्रेक्ष्य इस बात पर ज़ोर देता है कि मानवाधिकार स्थिर नहीं बल्कि गतिशील होते हैं। मैग्ना कार्टा जैसे ऐतिहासिक दस्तावेज़ों ने मूलभूत मानदंड स्थापित किए, लेकिन उनका दायरा सीमित था और प्रारंभ में वे अभिजात वर्ग या विशिष्ट सामाजिक समूहों पर ही लागू होते थे। समय के साथ, इन दस्तावेज़ों में निहित सिद्धांतों का धीरे-धीरे सार्वभौमिकरण हुआ, जिससे मानवाधिकार संघ, अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग, अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग

(आईसीसीपीआर), आईसीईएससीआर और अन्य संधियों का स्वरूप तैयार हुआ, जो सभी राज्यों के लिए दायित्व स्थापित करते हैं और अधिकारों को प्रत्येक व्यक्ति का अंतर्निहित अधिकार मानते हैं। यह क्रम दर्शाता है कि मानवाधिकारों का अर्थ सामाजिक, राजनीतिक और तकनीकी परिवर्तनों के अनुरूप विकसित होता है, जो नई कमज़ोरियों और सामाजिक अपेक्षाओं को प्रतिबिंबित करता है। ऐतिहासिक समझ को समकालीन चुनौतियों के साथ एकीकृत करके, छात्रों को अधिकारों को संदर्भ-संवेदनशील, अनुकूलनीय और नैतिक एवं कानूनी तर्क पर आधारित मानने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। (मोहंती, 2002; त्रिपाठी, 2019)

शिक्षण की दृष्टि से, ऐतिहासिक मूल को आधुनिक साधनों से जोड़ना मानवाधिकारों के शिक्षण और समझ को समृद्ध करता है। जब विद्यार्थी प्रारंभिक कानूनी सुरक्षा उपायों, ज्ञानोदय के दार्शनिक विमर्शों और समकालीन अंतर्राष्ट्रीय ढाँचों के बीच संबंध देखते हैं, तो उन्हें इस बात का व्यापक परिप्रेक्ष्य प्राप्त होता है कि अधिकारों की अवधारणा, रक्षा और क्रियान्वयन कैसे हुआ है। यह दृष्टिकोण नैतिक आदर्शों को व्यावहारिक सुरक्षा में बदलने में कानूनी संस्थानों, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों और वैश्विक नागरिक समाज की भूमिका की आलोचनात्मक सराहना को भी बढ़ावा देता है। इस क्रम का अनुसरण करके विद्यार्थी बेहतर ढंग से समझ सकते हैं कि मानवाधिकार एक ही समय में आकांक्षात्मक और प्रवर्तनीय क्यों हैं, जो साझा मानवीय अनुभवों पर आधारित हैं और ऐतिहासिक एवं समकालीन वास्तविकताओं द्वारा आकारित हैं।

निष्कर्षतः, विकासवादी अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि मानवाधिकार नैतिक चिंतन, कानूनी नवाचार और सामाजिक-राजनीतिक विकास की एक लंबी, निरंतर प्रक्रिया का परिणाम हैं। मैग्ना कार्टा में संहिताबद्ध अभिजात वर्ग के विशेषाधिकारों से लेकर आधुनिक संधियों में निहित सार्वभौमिक मानदंडों तक, गरिमा, न्याय और जवाबदेही के सिद्धांत केंद्रीय बने हुए हैं। वैश्वीकरण और उभरती प्रौद्योगिकियों से प्रभावित अधिकारों का समकालीन विस्तार इन सिद्धांतों की अनुकूलनशीलता और चिरस्थायी महत्व को दर्शाता है। छात्रों के लिए, इस विकास को समझना मानवाधिकारों के संरक्षण और संवर्धन में वर्तमान का विश्लेषण करने और भविष्य की चुनौतियों का पूर्वानुमान लगाने के लिए एक ऐतिहासिक आधार और एक व्यावहारिक ढाँचा प्रदान करता है।(त्रिपाठी, 2019; बक्सी, 2002; SAHRDC, 2006)

## खंड A - मानवाधिकार और भारतीय संविधान

## खंड B - भारत में मानवाधिकार, कानून और संस्थाएँ

## खंड C - भारत में मानवाधिकार आंदोलन

## खंड D - उपभोक्ता अधिकार : उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम और शिकायत निवारण तंत्र

## खंड E - संश्लेषण और समकालीन प्रासंगिकता

इकाई I और II में, हमने मानवाधिकारों की वैचारिक नींव, उनके दार्शनिक आधार, ऐतिहासिक विकास और अंतर्राष्ट्रीय दस्तावेजों में उनके औपचारिक संहिताकरण का अध्ययन किया। हमने मैग्ना कार्टा, मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा और अंतर्राष्ट्रीय संधियों जैसे महत्वपूर्ण दस्तावेजों का अध्ययन किया और अधिकारों की व्याख्या और प्रवर्तन में अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की भूमिका का भी विश्लेषण किया। इन चर्चाओं से यह स्पष्ट हुआ कि किस प्रकार अमूर्त नैतिक सिद्धांतों और नैतिक प्रतिबद्धताओं को कानूनी रूप से बाध्यकारी मानदंडों में परिवर्तित किया गया है, जिससे मानव गरिमा की रक्षा के लिए एक वैश्विक ढाँचा तैयार हुआ है।

अंतर्राष्ट्रीय दस्तावेज़ सार्वभौमिक संदर्भ प्रदान करते हैं, लेकिन मानवाधिकारों का वास्तविक कार्यान्वयन और प्रवर्तन काफी हद तक राष्ट्रीय कानूनी और संस्थागत तंत्रों पर निर्भर करता है। घोषणाओं और समझौतों में व्यक्त अधिकार तभी सार्थक होते हैं जब उन्हें घरेलू कानून में शामिल किया जाता है, न्यायिक व्याख्या द्वारा समर्थित किया जाता है और अनुपालन सुनिश्चित करने में सक्षम संस्थानों द्वारा संरक्षित किया जाता है। वैश्विक मानदंडों और घरेलू वास्तविकताओं के बीच परस्पर संबंध यह समझने की आवश्यकता को रेखांकित करता है कि मानवाधिकार विशिष्ट राजनीतिक, कानूनी और सांस्कृतिक संदर्भों में कैसे कार्य करते हैं।

तीसरा भाग अंतरराष्ट्रीय परिदृश्य से हटकर भारतीय संदर्भ पर केंद्रित है, जिसमें यह जांच की गई है कि भारत ने मानवाधिकारों के एजेंडे को किस प्रकार आत्मसात किया है, उसे किस प्रकार कार्यान्वित किया है और आगे बढ़ाया है। छात्र भारतीय संविधान के अंतर्गत दी गई संवैधानिक गारंटियों का अध्ययन करेंगे, जिनमें नागरिक, राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक अधिकार निहित हैं। यह भाग राष्ट्रीय कानूनों और संस्थानों, विशेष रूप से राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की भूमिका का भी विश्लेषण करता है, जो जवाबदेही को बढ़ावा देने और नागरिकों को मानवाधिकार उल्लंघनों से बचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसके अतिरिक्त, तीसरा भाग उन सामाजिक आंदोलनों और नागरिक सक्रियता पर प्रकाश डालता है जिन्होंने भारत में मानवाधिकारों को मजबूत किया है, और कानून, नागरिक समाज और शासन के बीच गतिशील अंतःक्रिया को दर्शाता है।

अंत में, यह इकाई उपभोक्ता अधिकारों का परिचय देती है, जो भारत में मानवाधिकारों का एक विशिष्ट लेकिन तेजी से महत्वपूर्ण होता जा रहा क्षेत्र है। उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम और उससे संबंधित शिकायत निवारण तंत्रों के माध्यम से, छात्र यह देखेंगे कि कानूनी ढाँचे किस प्रकार व्यक्तियों को सशक्त बना सकते हैं और रोजमर्रा की जिंदगी में अधिकारों के उल्लंघन से निपटने के लिए व्यावहारिक रास्ते प्रदान कर सकते हैं।अंतर्राष्ट्रीय सिद्धांतों को घरेलू कार्यान्वयन से

जोड़कर, इकाई III छात्रों को मानवाधिकारों की निरंतरता और अनुकूलनशीलता को समझने में सक्षम बनाती है, यह दर्शाते हुए कि भारतीय कानूनी और सामाजिक ढाँचे के भीतर सार्वभौमिक आदर्शों की व्याख्या, प्रवर्तन और विस्तार कैसे किया जाता है। यह परिप्रेक्ष्य न केवल वैचारिक समझ को मजबूत करता है बल्कि उन तंत्रों में व्यावहारिक अंतर्दृष्टि भी प्रदान करता है जिनके माध्यम से समकालीन भारत में अधिकारों को साकार किया जाता है।

## खंड A – मानवाधिकार और भारतीय संविधान

भारतीय संविधान उत्तर-औपनिवेशिक युग में मानवाधिकारों की सुरक्षा के लिए सबसे व्यापक ढाँचों में से एक प्रदान करता है। ऐसे समय में तैयार किया गया जब मानवाधिकारों पर वैश्विक चर्चाएँ मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा और संयुक्त राष्ट्र के व्यापक ढाँचे के माध्यम से आकार ले रही थीं, संविधान ने इन उभरती नैतिक प्रतिबद्धताओं को एक लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था के भीतर बाध्यकारी कानूनी मानकों में बदलने का प्रयास किया। संविधान सभा की बहसों से अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ की स्पष्ट समझ प्रकट होती है, फिर भी संविधान निर्माताओं ने सार्वभौमिक सिद्धांतों को भारत की सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की आवश्यकता को भी पहचाना। जैसा कि उपेंद्र बक्शी बताते हैं, भारत का अधिकार विमर्श संवैधानिक कल्पना के उत्पाद के रूप में और असमानता, भेदभाव और संस्थागत कमज़ोरी की वास्तविकताओं की प्रतिक्रिया के रूप में एक साथ विकसित हुआ। (बक्शी, 1987) यह दोहरा दृष्टिकोण आज भी इस बात को आकार देता है कि अधिकारों की व्याख्या, विस्तार और उन पर विवाद कैसे होता है।

संवैधानिक संरचना मानवाधिकारों को एक स्तरित ढाँचे में रखती है जिसमें लागू करने योग्य गारंटी, मार्गदर्शक सिद्धांत और नागरिक दायित्व शामिल हैं। ये स्तर संस्थागत विकास के लिए गुंजाइश छोड़ते हुए राजनीतिक, नागरिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अधिकारों का एक एकीकृत दृष्टिकोण प्रदान करते हैं। भारतीय न्यायपालिका, विधायिका, कार्यपालिका और स्वायत्त अधिकार निकाय इस संरचना के भीतर परस्पर क्रिया करते हैं, जिससे समय के साथ इसका दायरा और सीमाएँ निर्धारित होती हैं। हरगोपाल का कहना है कि संवैधानिक वादे और राजनीतिक व्यवहार के बीच यह परस्पर क्रिया भारत के मानवाधिकार अनुभव का मूल आधार है, विशेष रूप से जब राज्य विकास लक्ष्यों, सामाजिक न्याय प्रतिबद्धताओं और राष्ट्रीय सुरक्षा चिंताओं के बीच संतुलन बनाने का प्रयास करता है ।(हरगोपाल, 1998)

### A1. मानवाधिकारों के लिए संवैधानिक ढांचा

मानवाधिकारों के संवैधानिक संरक्षण के केंद्र में भाग III है, जो मौलिक अधिकारों की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। अनुच्छेद 12 से 35 में निहित ये अधिकार उच्च न्यायपालिका के माध्यम से लागू किए जा सकते हैं और इनमें समानता, स्वतंत्रता, शोषण से सुरक्षा, धर्म की स्वतंत्रता, सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकार, और संवैधानिक उपचारों के अधिकार की महत्वपूर्ण गारंटी शामिल हैं। संविधान के प्रारंभ में इनका स्थान भारतीय राजनीतिक परंपरा में इनकी प्राथमिकता को दर्शाता है। ये व्यक्तिगत स्वतंत्रता के उदार लोकतांत्रिक विचारों और औपनिवेशिक प्रभुत्व के इतिहास के बाद न्याय की तलाश में एक नव स्वतंत्र समाज की सामूहिक आकांक्षाओं दोनों से प्रेरित हैं

भाग IV, जिसमें अनुच्छेद 36 से 51 तक राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत शामिल हैं, राज्य की सामाजिक-आर्थिक और कल्याणकारी जिम्मेदारियों की पहचान करके मौलिक अधिकारों का पूरक है। यद्यपि ये सिद्धांत न्यायोचित नहीं हैं, फिर भी ये न्याय, समानता और गरिमा पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की व्यापक दृष्टि को व्यक्त करते हैं। इनमें आजीविका, सार्वजनिक स्वास्थ्य, समान कार्य के लिए समान वेतन, पर्यावरण संरक्षण और ग्राम पंचायतों के संगठन के प्रति

प्रतिबद्धताएँ शामिल हैं।दशकों से, निर्देशक सिद्धांतों ने विधायी और न्यायिक विकास को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया है, विशेष रूप से कल्याणकारी कानून, श्रम अधिकार और पर्यावरण कानून में। सर्वोच्च न्यायालय ने बार-बार इन सिद्धांतों का समर्थन किया है।उन्होंने इन्हें भाग III में अधिकारों के अर्थ का विस्तार करने के लिए आवश्यक स्रोतों के रूप में व्याख्यायित किया, जिससे प्रवर्तनीय अधिकारों और आकांक्षी सिद्धांतों के बीच एक घनिष्ठ संबंध स्थापित हुआ।

अनुच्छेद 51ए में भाग IV A को शामिल करके एक तीसरी परत जोड़ी गई, जिसमें नागरिकों के मौलिक कर्तव्यों का वर्णन किया गया है। ये कर्तव्य इस विश्वास को दर्शाते हैं कि मानवाधिकार तभी सबसे अधिक स्थायी रूप से फलते-फूलते हैं जब नागरिक जिम्मेदारी निभाते हैं और संवैधानिक मूल्यों को बनाए रखते हैं। ये नागरिकों से संविधान का सम्मान करने, राष्ट्रीय विरासत को संजोने, सार्वजनिक संपत्ति की रक्षा करने, वैज्ञानिक सोच विकसित करने और सद्भाव को बढ़ावा देने का आह्वान करते हैं। यद्यपि ये कर्तव्य कानूनी रूप से लागू करने योग्य नहीं हैं, फिर भी ये नागरिक चेतना को आकार देने और अधिकारों और जिम्मेदारियों के बीच पारस्परिक संबंध को सुदृढ़ करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

संविधान में अंतरराष्ट्रीय मानदंडों को भी महत्वपूर्ण रूप से शामिल किया गया है। हालाँकि अंतरराष्ट्रीय संधियाँ भारत में स्वतः कानून नहीं बन जातीं, फिर भी न्यायालयों ने संवैधानिक गारंटियों की व्याख्या करने के लिए अक्सर वैश्विक मानवाधिकार सम्मेलनों का सहारा लिया है, विशेषकर उन मामलों में जहाँ घरेलू कानून मौन है। यह दृष्टिकोण अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार प्रणाली के साथ भारत की निरंतर भागीदारी और घरेलू कानून को वैश्विक मानकों के अनुरूप बनाने की उसकी प्रतिबद्धता को दर्शाता है। न्यायिक निर्णयों में नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय समझौता, महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के भेदभाव के उन्मूलन पर सम्मेलन और बाल अधिकार ढाँचे जैसे वैश्विक दस्तावेजों का उल्लेख किया गया है, जिससे तुलनात्मक और अंतरराष्ट्रीय दृष्टिकोणों के माध्यम से संवैधानिक व्याख्या समृद्ध होती है।

### A2. प्रमुख अधिकार और उनकी व्याख्या

अनुच्छेद 14 से 18 में निहित समानता का अधिकार भारत की मानवाधिकार व्यवस्था का आधार है। यह अनेक आधारों पर भेदभाव को प्रतिबंधित करता है और कानूनों के समान संरक्षण को बढ़ावा देता है। संविधान यह मानता है कि स्थापित पदानुक्रमों को समाप्त करने के लिए समानता के लिए अक्सर भिन्न व्यवहार की आवश्यकता होती है, और इसलिए ऐतिहासिक रूप से वंचित समूहों के लिए सकारात्मक कार्रवाई नीतियों का समर्थन करता है। न्यायालयों ने समान संरक्षण के अर्थ को स्पष्ट करने और यह सुनिश्चित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है कि राज्य की कार्रवाई न तो मनमानी हो और न ही अन्यायपूर्ण।

अनुच्छेद 19 से 22 में निहित स्वतंत्रता का अधिकार भाषण, आवागमन, संगठन, व्यवसाय और मनमानी गिरफ्तारी से सुरक्षा जैसी आवश्यक स्वतंत्रताओं की रक्षा करता है। ये स्वतंत्रताएँ लोकतांत्रिक भागीदारी और सामाजिक अभिव्यक्ति का आधार बनती हैं। सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता और राष्ट्रीय सुरक्षा जैसे इन अधिकारों पर लगाई गई सीमाएँ, व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं और सामूहिक कल्याण के बीच संतुलन बनाने के संविधान के प्रयास को दर्शाती हैं। समय के साथ, न्यायिक समीक्षा के माध्यम से इन स्वतंत्रताओं की व्याख्या विकसित हुई है, विशेष रूप से नई तकनीकों, सामाजिक आंदोलनों और राजनीतिक संदर्भों के कारण सार्वजनिक बहस की सीमाएँ बदल गई हैं।

अनुच्छेद 23 और 24 बंधुआ मजदूरी, मानव तस्करी और बाल श्रम सहित सभी प्रकार के शोषण पर रोक लगाते हैं। ये प्रावधान मानव गरिमा के प्रति गहरी प्रतिबद्धता को दर्शाते हैं, विशेष रूप से ऐसे समाज में जो ऐतिहासिक रूप से जातिगत पदानुक्रम, आर्थिक दुर्बलता और सामाजिक बहिष्कार पर आधारित है। बंधुआ मजदूरी प्रणाली (उन्मूलन) अधिनियम और बाल श्रम (निषेध एवं विनियमन) अधिनियम जैसी विधायी पहलें इसी संवैधानिक जनादेश से उत्पन्न हुईं।अनुच्छेद 32 द्वारा प्रदत्त संवैधानिक उपचारों का अधिकार व्यक्तियों को अपने मौलिक अधिकारों को लागू कराने के लिए सीधे सर्वोच्च न्यायालय में जाने की अनुमति देता है। डॉ. बी. आर. अंबेडकर ने इस अनुच्छेद को संविधान का "हृदय और आत्मा" बताया था क्योंकि यह अधिकारों की रक्षा सुनिश्चित करता है। अनुच्छेद 226 के तहत उच्च न्यायालयों के पास भी इसी प्रकार की शक्तियाँ होती हैं, जिससे न्यायिक संरक्षण पूरे देश में सुलभ हो जाता है।

अनुच्छेद 21ए को शामिल करने से संवैधानिक परिदृश्य का और विस्तार हुआ, जो छह से चौदह वर्ष की आयु के बच्चों के लिए शिक्षा के अधिकार की गारंटी देता है। इस विकास ने संवैधानिक ढाँचे के भीतर सामाजिक-आर्थिक अधिकारों की बढ़ती मान्यता का संकेत दिया, जो वैश्विक मानदंडों के अनुरूप है, जो शिक्षा को व्यक्तिगत स्वतंत्रता और राष्ट्रीय विकास के लिए केंद्रीय मानते हैं। न्यायिक व्याख्या अधिकारों के दायरे को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण रही है। मेनका गांधी बनाम भारत संघ मामले में ऐतिहासिक फैसले ने अनुच्छेद 21 को पुनर्परिभाषित करते हुए इस बात पर जोर दिया कि जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार की व्याख्या निष्पक्षता और तर्कसंगतता के साथ की जानी चाहिए। इस फैसले ने एक नए युग की शुरुआत की जिसमें पहले विशुद्ध रूप से नागरिक या प्रक्रियात्मक माने जाने वाले अधिकारों को गरिमा और वास्तविक न्याय के व्यापक प्रश्नों से जोड़ा गया। केशवानंद भारती मामले ने मूलभूत संरचना सिद्धांत की स्थापना की, जिससे यह सुनिश्चित हुआ कि संवैधानिक संशोधन अधिकारों सहित मूलभूत लोकतांत्रिक मूल्यों को कमजोर नहीं कर सकते। विशाखा फैसले ने कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न पर दिशानिर्देश विकसित करके एक और मील का पत्थर स्थापित किया, जिसमें संवैधानिक गारंटी और अंतरराष्ट्रीय समझौतों दोनों का सहारा लिया गया। ये मामले दर्शाते हैं कि कैसे न्यायालयों ने बदलती सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप अधिकारों के अर्थ का विस्तार किया है, जिससे संविधान एक जीवंत दस्तावेज बन गया है। कोठारी और सेठी (1991) का कहना है कि भारतीय न्यायपालिका का व्याख्यात्मक दृष्टिकोण व्यापक मानवतावादी अभिविन्यास को दर्शाता है, जहाँ अधिकारों को केवल कानूनी हक के रूप में नहीं बल्कि सामाजिक परिवर्तन के साधन के रूप में देखा जाता है। यह प्रवृत्ति वर्षों से और गहरी होती गई है, जिससे न्याय, समानता और राज्य की उत्तरदायित्व की समझ का विस्तार हुआ **है।**

### A3. सीमाएँ और चुनौतियाँ

अपनी मानक शक्ति के बावजूद, संवैधानिक ढाँचा सीमाओं के भीतर काम करता है। अधिकारों के बीच अक्सर संघर्ष उत्पन्न होते हैं, खासकर जहाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रताएँ सार्वजनिक व्यवस्था, राष्ट्रीय सुरक्षा, सामुदायिक सद्भाव या सांस्कृतिक संवेदनशीलता से संबंधित चिंताओं के साथ प्रतिच्छेद करती हैं। उदाहरण के लिए, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए एक विविध समाज में सावधानीपूर्वक अंशांकन की आवश्यकता होती है जहाँ अभिव्यक्ति सामाजिक तनाव को भी भड़का सकती है या गहरी मान्यताओं को चुनौती दे सकती है। संविधान उचित प्रतिबंधों की अनुमति देता है, फिर भी इन सीमाओं की व्याख्या एक विकसित क्षेत्र बनी हुई है कार्यान्वयन में अंतराल एक और बड़ी चुनौती है। हालाँकि संविधान मजबूत गारंटी प्रदान करता है, लेकिन इन गारंटियों को रोजमर्रा की वास्तविकता में बदलने के लिए प्रशासनिक क्षमता, सामाजिक जागरूकता, कानूनी साक्षरता और संस्थागत जवाबदेही की आवश्यकता होती है। न्याय

तक पहुँच में असमानताएँ, आर्थिक कठिनाई और संरचनात्मक भेदभाव कई नागरिकों के अधिकारों की प्रभावी प्राप्ति को सीमित करते रहते हैं। नौकरशाही देरी, संसाधन बाधाओं या असमान राज्य क्षमता के कारण अच्छी मंशा वाली कल्याणकारी नीतियाँ भी विफल हो सकती हैं।

न्यायिक सक्रियता इन कमियों को दूर करने में एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभरी है, विशेष रूप से जनहित याचिकाओं के माध्यम से। न्यायालयों ने पर्यावरण संरक्षण से लेकर कैदियों के अधिकारों और भोजन तक पहुँच जैसे मुद्दों में हस्तक्षेप किया है। हालाँकि, न्यायिक हस्तक्षेप के बढ़ते दायरे ने न्यायिक हस्तक्षेप और न्याय के बीच उचित सीमाओं के बारे में बहस छेड़ दी है।जहाँ कुछ लोग न्यायिक सक्रियता को उन स्थितियों में अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक मानते हैं जहाँ राज्य की कार्रवाई अपर्याप्त होती है, वहीं अन्य लोग ऐसे अतिरेक के प्रति आगाह करते हैं जो संस्थागत संतुलन को बिगाड़ सकता है। एमनेस्टी इंटरनेशनल के समकालीन आकलन अधिकारों की रक्षा और शासन संबंधी दबावों के बीच निरंतर तनाव की ओर इशारा करते हैं, और यह भी बताते हैं कि प्रगति अक्सर निरंतर जनभागीदारी और संस्थागत सुधार पर निर्भर करती है। इसलिए मानवाधिकारों के प्रति भारतीय संवैधानिक दृष्टिकोण आकांक्षा और संघर्ष दोनों को समाहित करता है। यह गरिमा, समानता और न्याय पर आधारित समाज के निर्माण के सामूहिक प्रयास को दर्शाता है, भले ही यह विविधता, विकास और लोकतांत्रिक वार्ता की जटिल वास्तविकताओं का सामना कर रहा हो। इस ढाँचे को समझने से छात्रों को यह समझने में मदद मिलती है कि भारत में अधिकारों का विकास कैसे हुआ है और एक गतिशील संवैधानिक लोकतंत्र में वे सार्वजनिक जीवन को किस प्रकार आकार देते रहते हैं।

## खंड B – भारत में मानवाधिकार, कानून और संस्थाएँ

भारत में मानवाधिकारों की सुरक्षा न केवल संविधान द्वारा प्रदत्त गारंटी पर निर्भर करती है, बल्कि कानूनों और संस्थाओं के एक विस्तृत नेटवर्क पर भी निर्भर करती है जो उन संवैधानिक प्रतिबद्धताओं को व्यावहारिक रूप प्रदान करते हैं। यह ढाँचा राजनीतिक बहसों, न्यायिक निर्णयों, सामाजिक आंदोलनों और वैश्विक मानवाधिकार मानकों के साथ भारत के निरंतर जुड़ाव से धीरे-धीरे विकसित हुआ है। जैसा कि हरगोपाल ने कहा है, भारतीय मॉडल संवैधानिक आदर्शवाद को प्रशासनिक व्यावहारिकता के साथ जोड़ता है, और व्यापक नैतिक सिद्धांतों को क्रियात्मक संस्थागत जिम्मेदारियों में बदलने का प्रयास करता है। (हरगोपाल, 1998) मानवाधिकार संस्थाओं का विकास इस विश्वास को दर्शाता है कि अधिकारों को केवल अमूर्त मानदंडों के माध्यम से सुरक्षित नहीं किया जा सकता; इसके लिए ऐसे तंत्रों की आवश्यकता होती है जो उल्लंघनों पर प्रतिक्रिया देने, राज्य की कार्रवाई की निगरानी करने और कमजोर समूहों का समर्थन करने में सक्षम हों।

### B1. राष्ट्रीय कानूनी ढाँचे

कई राष्ट्रीय कानून, अधिकारों के संवैधानिक संरक्षण को पूरक बनाते हुए, उल्लंघन की विशिष्ट श्रेणियों की पहचान करते हैं और उपचार निर्धारित करते हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 है, जिसे मानवाधिकारों को बढ़ावा देने और उनकी रक्षा के लिए एक औपचारिक संस्थागत ढाँचा बनाने के उद्देश्य से अधिनियमित किया गया था। यह अधिनियम भारत के संविधान और अंतरराष्ट्रीय समझौतों के अनुसार मानवाधिकारों को परिभाषित करता है, राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की स्थापना करता है और उल्लंघन की जांच के लिए प्रक्रियाओं की रूपरेखा तैयार करता है। वर्षों से, संशोधनों ने अधिनियम के दायरे को बढ़ाया है, परिभाषाओं को अद्यतन किया है और शिकायतों के निवारण

में अधिक प्रभावशीलता सुनिश्चित करने के लिए प्रक्रियात्मक तंत्र को मजबूत किया है।व्यापक कानूनी परिदृश्य में कमजोर समूहों की सुरक्षा के उद्देश्य से बनाए गए कानून शामिल हैं। किशोर न्याय कानून बच्चों की देखभाल और सुरक्षा संबंधी जरूरतों के साथ-साथ कानून से संघर्ष करने वाले बच्चों से संबंधित मुद्दों को संबोधित करने के लिए एक बाल-केंद्रित ढाँचा प्रदान करता है। इसके लगातार संशोधनों से अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों, विशेष रूप से संयुक्त राष्ट्र बाल अधिकार सम्मेलन के साथ भारत का बढ़ता तालमेल झलकता है। अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम एक और महत्वपूर्ण स्तंभ है, जो इन समुदायों द्वारा झेले गए विशिष्ट ऐतिहासिक अन्याय को मान्यता देता है और भेदभाव, हिंसा और सामाजिक अपमान के कृत्यों के लिए कठोर दंड का प्रावधान करता है। यह संरचनात्मक खामियों को दूर करने का प्रयास करता है।

सूचना का अधिकार अधिनियम नागरिकों को सरकारी कामकाज के बारे में जानकारी उपलब्ध कराकर लोकतांत्रिक जवाबदेही को और मजबूत बनाता है। हालाँकि इसे स्पष्ट रूप से मानवाधिकार कानून के रूप में परिभाषित नहीं किया गया है, फिर भी यह पारदर्शिता और जनभागीदारी को बढ़ावा देता है, जो आधुनिक मानवाधिकार संबंधी चर्चा के आवश्यक घटक हैं। एमनेस्टी इंटरनेशनल के आवधिक आकलन बताते हैं कि ऐसे कानूनों ने नागरिकों को सशक्त बनाने, सार्वजनिक सेवा वितरण की सामुदायिक निगरानी को सक्षम बनाने और राज्य की जवाबदेही बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ये कानून मिलकर भारत में अधिकारों की बढ़ती समझ को दर्शाते हैं, जो पारंपरिक नागरिक स्वतंत्रता से आगे बढ़कर सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा और सहभागितापूर्ण अधिकारों को भी शामिल करते हैं। ये कानून सामाजिक परिस्थितियों में बदलाव के साथ-साथ कानूनी ढाँचों को अद्यतन करने की निरंतर आवश्यकता को भी प्रदर्शित करते हैं।

### बी2. राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की भूमिका

भारत में मानवाधिकार संरक्षण के संस्थागत ढाँचे में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग का केंद्रीय स्थान है। मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 के तहत गठित एनएचसीआर को लोक सेवकों द्वारा मानवाधिकारों के उल्लंघन या ऐसे उल्लंघनों की रोकथाम में हुई लापरवाही की जांच करने का अधिकार है। यह एक स्वतंत्र निकाय के रूप में कार्य करता है, जिसका व्यापक जनादेश है जिसमें जांच, हिरासत संस्थानों की निगरानी, विधायी सुरक्षा उपायों की समीक्षा और नागरिक समाज के साथ जुड़ाव शामिल है।

राष्ट्रीय न्याय आयोग की संरचना में कानूनी विशेषज्ञता और प्रशासनिक अनुभव के संयोजन का उद्देश्य झलकता है। इसकी अध्यक्षता एक ऐसे अध्यक्ष द्वारा की जाती है जो सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश या न्यायाधीश रह चुके हैं, और उन्हें न्यायिक और गैर-न्यायिक पृष्ठभूमि से आए सदस्यों का सहयोग प्राप्त है। आयोग के पास जांच कर्मचारी, विशेष विभाग और सलाहकार क्षमताएँ हैं जो इसे हिरासत में हिंसा से लेकर मानव तस्करी और भेदभाव तक के व्यापक मुद्दों की जांच करने में सक्षम बनाती हैं। हालाँकि इसकी स्वायत्तता विधि द्वारा निर्धारित है, फिर भी यह नियुक्तियों की गुणवत्ता, राजनीतिक समर्थन और प्रशासनिक संसाधनों पर काफी हद तक निर्भर करती है।

आयोग की शिकायत प्रक्रिया के तहत कोई भी व्यक्ति या समूह सीधे उससे संपर्क कर सकता है। शिकायतें राज्य एजेंसियों की कार्रवाइयों या दूसरों द्वारा किए गए उल्लंघनों को रोकने में विफलता से संबंधित हो सकती हैं। आयोग जांच कर सकता है, साक्ष्य मंगवा सकता है, हिरासत केंद्रों का दौरा कर सकता है और मुआवजे या अनुशासनात्मक कार्रवाई की सिफारिश कर सकता है। हालाँकि इसकी सिफारिशें बाध्यकारी नहीं हैं, लेकिन उनमें पर्याप्त नैतिक अधिकार होता है

और राज्य सरकारों से आमतौर पर उनका पालन करने की अपेक्षा की जाती है। आयोग ने गिरफ्तारी प्रक्रियाओं, मुठभेड़ में हुई मौतों और हिरासत में जांच जैसे मामलों पर दिशानिर्देश विकसित किए हैं, जो देश भर में पुलिसिंग और प्रशासनिक प्रथाओं को प्रभावित करने वाले मानक निर्धारित करते हैं।

राज्य मानवाधिकार आयोगों, नागरिक समाज संगठनों और अंतर्राष्ट्रीय निकायों के साथ राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के संबंध इसकी भूमिका को मजबूत करते हैं। यह दोहराव से बचने के लिए राज्य आयोगों के साथ समन्वय करता है, पुलिस और सार्वजनिक अधिकारियों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रमों का समर्थन करता है, और मानवाधिकार संबंधी कानूनों पर राष्ट्रीय परामर्शों में भाग लेता है। कई महत्वपूर्ण मामलों में, एनएचआरसी ने सामूहिक हिंसा, सांप्रदायिक तनाव, विस्थापन और हिरासत में दुर्व्यवहार की स्थितियों में हस्तक्षेप किया है, मार्गदर्शन प्रदान किया है और अनुवर्ती कार्रवाई की निगरानी की है। बक्सी इस बात पर जोर देते हैं की NHRC जैसी संस्थाएँ न केवल शिकायत मंचों के रूप में कार्य करती हैं बल्कि "मानक जुड़ाव के स्थलों" के रूप में भी कार्य करती हैं, जो जवाबदेही और अधिकारों की चेतना की लोकतांत्रिक संस्कृति को आकार देती हैं (बक्सी, 1987)।

### B3. पूरक संस्थान

मानवाधिकार ढाँचे की प्रभावशीलता विभिन्न संस्थाओं के सहयोगात्मक सहयोग पर निर्भर करती है। राज्य मानवाधिकार आयोग राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग (एनएचआरसी) के समान कार्य करते हैं, लेकिन उनका ध्यान क्षेत्र-विशिष्ट मुद्दों पर केंद्रित होता है। स्थानीय परिस्थितियों से निकटता के कारण वे अक्सर समय पर हस्तक्षेप करने में सक्षम होते हैं, हालाँकि संसाधनों, नेतृत्व और संस्थागत समर्थन के आधार पर राज्यों में उनकी क्षमता भिन्न होती है। अन्य निकाय भी अधिकारों की रक्षा में योगदान देते हैं। न्यायपालिका संवैधानिक अधिकारों की सर्वोच्च संरक्षक बनी रहती है, जिसमें उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय समीक्षा और निवारण की शक्तियों का प्रयोग करते हैं। पुलिस संस्थाएं, हालाँकि कभी-कभी उल्लंघनों में संलिप्त होती हैं, प्रवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। प्रशिक्षण, सामुदायिक भागीदारी और जवाबदेही में सुधार लाने के उद्देश्य से किए गए सुधार व्यापक अधिकार ढाँचे से जुड़े हुए हैं। लोकायुक्त जैसे लोकपाल तंत्र प्रशासनिक शिकायतों, भ्रष्टाचार और सत्ता के दुरुपयोग के समाधान के लिए माध्यम प्रदान करते हैं।नागरिक समाज संगठन लंबे समय से अधिकारों के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान देते रहे हैं। वे समुदायों को संगठित करते हैं, उल्लंघनों का दस्तावेजीकरण करते हैं, जन जागरूकता अभियान चलाते हैं और अदालतों एवं आयोगों के समक्ष मुद्दों को लाते हैं। कोठारी और सेठी (1991) ने ऐसे संगठनों के महत्व पर प्रकाश डाला है जो एक ऐसा सार्वजनिक मंच तैयार करते हैं जहाँ अधिकारों पर चर्चा, बहस और विस्तार होता है। उनका कार्य यह सुनिश्चित करता है कि संस्थागत तंत्र जमीनी हकीकतों से जुड़े रहें, विशेषकर उन संदर्भों में जहाँ हाशिए पर स्थित समूहों की औपचारिक संस्थानों तक सीधी पहुँच न हो। ये सभी संस्थाएँ मिलकर एक परस्पर जुड़ी हुई प्रणाली का निर्माण करती हैं, जिनमें से प्रत्येक अधिकारों की सुरक्षा के विभिन्न आयामों को संबोधित करती है। इनकी प्रभावशीलता रचनात्मक समन्वय, पारदर्शी कार्यप्रणाली और संवैधानिक मूल्यों को बनाए रखने के लिए सार्वजनिक अधिकारियों की प्रतिबद्धता पर निर्भर करती है।

### B4. प्रवर्तन में चुनौतियाँ

कानूनों और संस्थाओं के विकास के बावजूद, भारत में मानवाधिकारों के प्रवर्तन में कई चुनौतियाँ बनी हुई हैं। संसाधनों की कमी एक महत्वपूर्ण चिंता का विषय है, विशेष रूप से राज्य मानवाधिकार आयोगों और निचले स्तर के न्यायिक

निकायों के लिए। अपर्याप्त कर्मचारी, बुनियादी ढाँचे की सीमाएँ और जाँच में देरी संस्थाओं के सुरक्षात्मक कार्य को कमजोर कर सकती हैं। नौकरशाही प्रक्रियाएँ शिकायतों के धीमे समाधान में योगदान दे सकती हैं, जिससे व्यक्ति अपनी शिकायतें दर्ज कराने से हतोत्साहित हो सकते हैं। राजनीतिक हस्तक्षेप संस्थागत स्वतंत्रता को भी कमजोर कर सकता है। आयोगों की नियुक्ति प्रक्रिया, उनकी सिफारिशों का कार्यान्वयन और संवेदनशील मामलों का निपटारा राजनीतिक विचारों से प्रभावित हो सकता है। इसलिए, मानवाधिकार संस्थानों में जनता का विश्वास बनाए रखने के लिए स्वायत्तता और पारदर्शिता सुनिश्चित करना आवश्यक है।नागरिकों में जागरूकता की कमी प्रवर्तन को और भी जटिल बना देती है। कई व्यक्ति, विशेषकर ग्रामीण या हाशिए पर स्थित क्षेत्रों में, अपने अधिकारों या उपलब्ध तंत्रों से अनभिज्ञ रहते हैं।कानूनी साक्षरता कार्यक्रम, सामुदायिक जागरूकता अभियान और नागरिक समाज संगठनों का कार्य इस अंतर को पाटने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, फिर भी यह सुनिश्चित करने के लिए बहुत कुछ किया जाना बाकी है कि अधिकार दूर के सिद्धांतों के बजाय जीवंत वास्तविकता बन जाएं। ये चुनौतियाँ नैतिक प्रतिबद्धताओं और प्रशासनिक क्षमता के बीच व्यापक तनाव को दर्शाती हैं। एमनेस्टी इंटरनेशनल की रिपोर्टें बताती हैं कि मजबूत कानूनी ढाँचे भी तब तक अपर्याप्त साबित हो सकते हैं जब तक उन्हें निरंतर संस्थागत सुदृढ़ीकरण, जन भागीदारी और सतर्क निगरानी का समर्थन प्राप्त न हो। भारत का अनुभव दर्शाता है कि मानवाधिकारों का संरक्षण एक निरंतर प्रक्रिया है, जिसके लिए निरंतर अनुकूलन, सुधार और सामूहिक जिम्मेदारी की आवश्यकता होती है।

## खंड C – भारत में मानवाधिकार आंदोलन

भारत में मानवाधिकारों का विकास न केवल संवैधानिक और कानूनी संस्थाओं से, बल्कि सामाजिक आंदोलनों, सुधार समूहों और जन पहलों की ऊर्जा से भी प्रभावित रहा है। इन आंदोलनों ने औपचारिक संस्थाओं के अस्तित्व में आने से बहुत पहले ही अधिकार-आधारित चिंतन के लिए नैतिक और सामाजिक आधार प्रदान किया है। जैसा कि बक्सी (1987) ने उल्लेख किया है, भारतीय अनुभव दर्शाता है कि अधिकार गरिमा, समानता और मान्यता के लिए संघर्षों के माध्यम से उभरते हैं, जिनकी शुरुआत अक्सर आम नागरिकों और समुदाय-आधारित संगठनों द्वारा की जाती है। समय के साथ, इन आंदोलनों ने अधिकारों के अर्थ का विस्तार किया, गहरी जड़ें जमा चुकी असमानताओं को चुनौती दी और विधायी एवं न्यायिक सुधारों में योगदान दिया। इसलिए, भारत में मानवाधिकार सक्रियता का पथ सामाजिक लामबंदी और संस्थागत विकास के बीच गतिशील संबंध को दर्शाता है।

### C1. ऐतिहासिक आंदोलन

भारत में मानवाधिकार सक्रियता की उत्पत्ति उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के आरंभिक सुधार आंदोलनों से मानी जा सकती है। इन आंदोलनों ने जातिगत असमानता, लैंगिक भेदभाव, शिक्षा तक पहुँच और दमनकारी पारंपरिक प्रथाओं सहित कई सामाजिक मुद्दों को संबोधित किया। सुधारकों ने जन चेतना को नया रूप देने और ऐसे बदलाव लाने का प्रयास किया, जिनका प्रभाव बाद में संवैधानिक अधिकारों पर पड़ा। दलित मुक्ति आंदोलन इनमें सबसे महत्वपूर्ण था, क्योंकि बी.आर. अंबेडकर जैसे नेताओं ने सामाजिक पदानुक्रम की व्यापक आलोचना करते हुए आत्मसम्मान, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और सार्वजनिक संसाधनों तक समान पहुँच पर जोर दिया। अंबेडकर के कार्यों ने समानता और गैर-भेदभाव की संवैधानिक परिकल्पना में प्रत्यक्ष योगदान दिया, जिससे कानूनी ढाँचे और सार्वजनिक चर्चा दोनों को आकार मिला।

महिला अधिकार आंदोलनों ने मानव गरिमा और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की प्रारंभिक समझ को आकार देने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कार्यकर्ताओं ने बाल विवाह, विधवा आत्मदाह, शिक्षा तक पहुँच की कमी और सार्वजनिक जीवन में महिलाओं की भागीदारी पर लगे प्रतिबंधों जैसे मुद्दों को संबोधित करने के लिए काम किया। उनके प्रयासों ने धीरे-धीरे विधायी सुधारों को प्रभावित किया और नागरिकता और समानता के बारे में व्यापक बहसों में योगदान दिया। अहिंसा और सामुदायिक लामबंदी पर आधारित गांधी के सामाजिक परिवर्तन के दृष्टिकोण ने मानवाधिकार विमर्श के नैतिक आधार को और भी विस्तृत किया। गांधी ने हाशिए पर पड़े समूहों की भागीदारी को प्रोत्साहित किया, रचनात्मक कार्यक्रमों के माध्यम से पदानुक्रमों को चुनौती दी और राजनीतिक संघर्ष के पूरक के रूप में नैतिक जिम्मेदारी पर जोर दिया। विनोबा भावे की पहल, विशेष रूप से भूदान आंदोलन, ने सामाजिक-आर्थिक अधिकारों पर एक वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।इन ऐतिहासिक आंदोलनों ने मानवाधिकारों की आधुनिक भाषा का स्पष्ट रूप से प्रयोग नहीं किया, फिर भी इन्होंने भारत के स्वतंत्रताोत्तर अधिकार ढाँचे में निहित गरिमा, समानता और सामाजिक न्याय की अवधारणाओं की नींव रखी। इनकी विरासत सामाजिक परिवर्तन के प्रति संवैधानिक प्रतिबद्धता और गहरी जड़ें जमा चुकी असमानताओं को दूर करने के लिए नागरिक समाज के निरंतर प्रयासों में आज भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

### C2. स्वतंत्रता के बाद मानवाधिकार सक्रियता

स्वतंत्रता के बाद, मानवाधिकार सक्रियता अधिक संगठित और उभरती सामाजिक एवं आर्थिक चुनौतियों के प्रति अधिक संवेदनशील हो गई। तीव्र औद्योगीकरण और सामाजिक परिवर्तन के साथ, असमानता और अन्याय के नए रूप सामने आए, जिससे जमीनी स्तर के संगठनों को कमजोर समुदायों के अधिकारों की वकालत करने की प्रेरणा मिली। विस्थापन, भूमि हानि और प्राकृतिक संसाधनों तक पहुँच जैसे मुद्दे सार्वजनिक ध्यान में आने के साथ ही आदिवासी अधिकारों के लिए आंदोलन प्रमुखता प्राप्त कर गए। इन आंदोलनों ने आदिवासी समुदायों के ऐतिहासिक हाशिए पर रहने और उनके सांस्कृतिक एवं आर्थिक अधिकारों की कानूनी मान्यता की आवश्यकता को उजागर किया। बंधुआ मजदूरी के खिलाफ सक्रियता ने उन शोषण के रूपों की ओर ध्यान आकर्षित किया जो औपचारिक कानूनी प्रतिबंधों के बावजूद जारी थे, जिससे मजबूत प्रवर्तन तंत्र और पुनर्वास कार्यक्रमों का विकास हुआ।

बाल अधिकारों के लिए सक्रियता में उल्लेखनीय विस्तार हुआ, जिसमें बाल श्रम, मानव तस्करी, शिक्षा तक पहुँच और संस्थागत देखभाल की स्थितियों पर ध्यान केंद्रित किया गया। कई संगठनों के कार्यों ने राष्ट्रीय बहसों और कानूनी सुधारों में योगदान दिया, जिनमें किशोर न्याय में सुधार और मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा के अधिकार की मान्यता शामिल है। इस दौरान महिलाओं के अधिकारों के लिए सक्रियता में भी निरंतर वृद्धि हुई, जिसमें दहेज हिंसा, यौन उत्पीड़न, घरेलू हिंसा और संसाधनों तक असमान पहुँच जैसे मुद्दों को उठाया गया। इन आंदोलनों ने विधायी सुधारों को प्रोत्साहित किया और लैंगिक समानता के बारे में जनमानस में बदलाव लाने में योगदान दिया। इस चरण में गैर-सरकारी संगठनों, सामुदायिक समूहों और मीडिया की भूमिका महत्वपूर्ण हो गई। गैर-सरकारी संगठनों ने उल्लंघनों का दस्तावेजीकरण करने, कानूनी सहायता प्रदान करने और सार्वजनिक शिक्षा कार्यक्रम आयोजित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मीडिया ने इन चिंताओं को उजागर किया, उन मुद्दों पर ध्यान आकर्षित किया जो अन्यथा अदृश्य रह सकते थे। इस अवधि के दौरान मानवाधिकारों को आगे बढ़ाने के लिए जनहित याचिका सबसे प्रभावशाली उपकरणों में से एक के रूप में उभरी। इसने अदालतों को उन समूहों को प्रभावित करने वाले मुद्दों को संबोधित करने में सक्षम बनाया जो सीधे न्याय तक पहुँचने में असमर्थ थे। जनहित याचिका के कारण पर्यावरण संरक्षण, हिरासत में हिंसा, बंधुआ मजदूरी और कैदियों के अधिकारों

जैसे क्षेत्रों में न्यायिक हस्तक्षेप हुए, जिससे अनुच्छेद 21 का दायरा बढ़ा और भारत में सामाजिक-आर्थिक अधिकारों के विचार को नया अर्थ मिला। ये घटनाक्रम दर्शाते हैं कि कैसे स्वतंत्रता के बाद की सक्रियता ने न्यायपालिका को अधिकार-आधारित दावों के लिए एक क्षेत्र में बदल दिया, जिससे लोकतांत्रिक शासन के भीतर जवाबदेही तंत्र मजबूत हुए।

### C3. समकालीन चुनौतियाँ और वकालत

हाल के दशकों में, भारत में मानवाधिकार सक्रियता तेजी से बदलते समाज की जटिल चुनौतियों का सामना करते हुए अधिक विविध हो गई है। अल्पसंख्यकों, शरणार्थियों और विस्थापित आबादी के अधिकारों की रक्षा करने वाले आंदोलनों ने पहचान, सुरक्षा और अपनेपन के मुद्दों पर ध्यान आकर्षित किया है। ये बहसें भारत के बहुल संवैधानिक ढाँचे और सामाजिक सद्भाव बनाए रखते हुए परस्पर विरोधी दावों को संतुलित करने की आवश्यकता को दर्शाती हैं। विकलांग व्यक्तियों के अधिकारों की वकालत को प्रमुखता मिली है, विशेष रूप से आधुनिक विकलांग अधिकार कानूनों को अपनाने और अंतरराष्ट्रीय मानदंडों के साथ उनके संरेखण के बाद। लैंगिक न्याय आंदोलनों ने अपने दायरे को औपचारिक समानता से आगे बढ़ाकर कार्यस्थल उत्पीड़न, प्रजनन अधिकारों और भेदभाव के अंतर्संबंधी रूपों जैसे मुद्दों को भी शामिल किया है।

तकनीकी बदलाव के साथ-साथ चिंता के नए क्षेत्र भी उभर कर सामने आए हैं। डिजिटल अधिकार और गोपनीयता समकालीन मानवाधिकार चर्चा के केंद्रबिंदु बन गए हैं, जिससे निगरानी, डेटा सुरक्षा, ऑनलाइन अभिव्यक्ति और प्रौद्योगिकी के नैतिक उपयोग पर बहस छिड़ गई है। ये चिंताएँ डिजिटल युग में अधिकारों के बदलते स्वरूप और अद्यतन नियामक ढाँचों की आवश्यकता को दर्शाती हैं। पर्यावरण आंदोलनों को भी प्रमुखता मिली है, जो पारिस्थितिक कल्याण और मानवाधिकारों के बीच संबंध को उजागर करते हैं। स्वच्छ जल तक पहुँच, प्रदूषण से सुरक्षा और सतत विकास रणनीतियों को मानवाधिकार ढाँचे के आवश्यक घटकों के रूप में देखा जा रहा है।

एमनेस्टी इंटरनेशनल के हालिया आकलन इस बात पर ज़ोर देते हैं कि भारत ने अपने मानवाधिकार ढाँचे को मज़बूत करने में महत्वपूर्ण प्रगति की है, लेकिन भेदभाव, न्याय तक पहुँच और कमजोर समुदायों के संरक्षण जैसे क्षेत्रों में चुनौतियाँ अभी भी बनी हुई हैं। मानवाधिकार संबंधी मुद्दों की बढ़ती जटिलता के लिए वकालत के अनुकूल तरीकों की आवश्यकता है, जिनमें राज्य संस्थाओं, नागरिक समाज और समुदायों के बीच सहयोग शामिल हो। समकालीन मानवाधिकार आंदोलन इस बदलाव को दर्शाते हैं, क्योंकि वे तात्कालिक शिकायतों और संरचनात्मक असमानताओं दोनों को दूर करने के लिए कानूनी रणनीतियों को सार्वजनिक भागीदारी, अनुसंधान और नीतिगत वकालत के साथ जोड़ते हैं।

कुल मिलाकर, भारत में मानवाधिकार आंदोलन संवैधानिक वादों और वास्तविक जीवन के अनुभवों के बीच निरंतर संवाद को दर्शाता है। यह साबित करता है कि अधिकार स्थिर नहीं होते बल्कि जनभागीदारी, नैतिक चिंतन और संस्थागत प्रतिक्रिया के माध्यम से विकसित होते हैं। एक विविधतापूर्ण समाज में न्याय, समानता और मानवीय गरिमा के प्रति प्रतिबद्धता को बनाए रखने के लिए सामाजिक आंदोलनों, कानूनी संस्थाओं और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं की निरंतर भागीदारी आवश्यक है।

## खंड D – उपभोक्ता अधिकार : उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम और शिकायत निवारण तंत्र

भारत में उपभोक्ता अधिकारों को धीरे-धीरे मानवाधिकारों के एक आवश्यक विस्तार के रूप में समझा जाने लगा है, विशेष रूप से ऐसे समाज में जहाँ दैनिक लेन-देन व्यक्तियों की गरिमा और सुरक्षा को प्रभावित करते हैं। इस विचार के मूल में यह मान्यता निहित है कि उपभोक्ता केवल बाज़ारों में भागीदार नहीं हैं, बल्कि अधिकार-धारक व्यक्ति हैं जिनका कल्याण व्यापक संवैधानिक मूल्यों से जुड़ा है। भारत में मानवाधिकारों के विमर्श का विस्तार – नागरिक और राजनीतिक अधिकारों से लेकर सामाजिक-आर्थिक और सामूहिक अधिकारों तक – ने संरक्षण को सक्षम बनाया है।उपभोक्ताओं को केवल आर्थिक निष्पक्षता के मामले के रूप में नहीं, बल्कि न्याय, समानता और जिम्मेदार शासन के प्रश्न के रूप में देखा जाना चाहिए। भारत में अधिकारों पर प्रारंभिक शोध, जिसमें बक्सी (1987) भी शामिल हैं, ने इस संबंध को स्थापित करने में मदद की, इस बात पर जोर देते हुए कि अधिकारों का अंतिम उद्देश्य व्यक्ति की गरिमा और स्वायत्तता के साथ जीने की क्षमता की रक्षा करना है।

इस ढाँचे के अंतर्गत, उपभोक्ता अधिकार व्यापक रूप से मान्यता प्राप्त सुरक्षाओं को संदर्भित करते हैं, जैसे सुरक्षा का अधिकार, सूचना का अधिकार, चयन का अधिकार और अनुचित प्रथाओं के विरुद्ध निवारण का अधिकार। ये सुरक्षाएँ इसलिए बलवान होती हैं क्योंकि ये सीधे संवैधानिक गारंटियों से जुड़ी हैं। अनुच्छेद 21 के अंतर्गत जीवन के अधिकार की व्याख्या में सुरक्षित और संरक्षित जीवन जीने का अधिकार शामिल है, जो सुरक्षित उत्पादों और निष्पक्ष बाज़ार प्रथाओं तक विस्तारित है। इसी प्रकार, अनुच्छेद 14 के अंतर्गत समानता का अधिकार इस सिद्धांत को सुदृढ़ करता है कि सभी उपभोक्ताओं के साथ बिना किसी भेदभाव के व्यवहार किया जाना चाहिए। इन संबंधों की स्वीकृति उपभोक्ता अधिकारों को मानवाधिकारों के व्यापक विमर्श में मजबूती से स्थापित करने में सक्षम बनाती है और शोषण को रोकने, पारदर्शिता को बढ़ावा देने और कमजोर समूहों की रक्षा करने वाले कानूनी ढाँचे बनाने में राज्य की भूमिका को रेखांकित करती है।

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 2019 भारत के उपभोक्ता अधिकार व्यवस्था के विकास में एक महत्वपूर्ण कदम है। 1986 के पूर्ववर्ती अधिनियम का स्थान लेते हुए, 2019 का यह कानून उपभोग के नए स्वरूपों, विस्तारित बाजारों और डिजिटल वाणिज्य की जटिल प्रकृति को ध्यान में रखकर बनाया गया था। इसके प्रावधानों ने उपभोक्ता की परिभाषा को व्यापक बनाया, निर्माताओं और सेवा प्रदाताओं के लिए स्पष्ट जवाबदेही निर्धारित की और ऑनलाइन लेनदेन से संबंधित उभरती चिंताओं को मान्यता दी। इस अधिनियम का एक प्रमुख योगदान केंद्रीय उपभोक्ता संरक्षण प्राधिकरण की स्थापना है, जिसे अनुचित व्यापार प्रथाओं को विनियमित करने, उत्पाद वापस मंगाने का आदेश देने, जुर्माना लगाने और यह सुनिश्चित करने का अधिकार दिया गया है कि उपभोक्ताओं के हित केवल व्यक्तिगत मुकदमों पर निर्भर न रहें। राज्य उपभोक्ता संरक्षण प्राधिकरण अपने-अपने अधिकार क्षेत्र में जागरूकता कार्यक्रम लागू करके और अनुपालन की निगरानी करके पूरक भूमिका निभाते हैं

इस अधिनियम ने न्यायनिर्णय मंचों का पुनर्गठन करते हुए उन्हें जिला, राज्य और राष्ट्रीय उपभोक्ता विवाद निवारण आयोगों में विभाजित किया, जिनमें संशोधित आर्थिक क्षेत्राधिकार शामिल हैं, ताकि निवारण प्रणाली अधिक सुलभ और कुशल बन सके। ये निकाय विशेष न्यायालयों के रूप में कार्य करते हैं, जहाँ उपभोक्ता अनुचित अनुबंधों, दोषपूर्ण

उत्पादों या भ्रामक विज्ञापनों को चुनौती दे सकते हैं। राज्यों और जिलों में इनकी उपस्थिति इन्हें विकेंद्रीकृत न्याय के लिए आवश्यक संस्था बनाती है, जिससे नियमित न्यायालयों पर बोझ कम होता है और त्वरित समाधान संभव हो पाता है।

उपभोक्ता संरक्षण का एक महत्वपूर्ण पहलू शिकायत निवारण तंत्र है जो व्यक्तियों को प्रक्रियात्मक जटिलताओं के बिना समाधान प्राप्त करने में सहायता करता है। उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 2019 ने शिकायतों को ऑनलाइन या इलेक्ट्रॉनिक रूप से जमा करने की अनुमति देकर शिकायत दर्ज करने की प्रक्रिया को सरल बना दिया है, जिससे भौतिक और नौकरशाही बाधाएँ कम हो गई हैं। उपभोक्ता वस्तुओं या सेवाओं के मूल्य और विवाद की प्रकृति के आधार पर उपयुक्त मंच से संपर्क कर सकते हैं। वैकल्पिक विवाद समाधान तंत्र के रूप में मध्यस्थता का समावेश अधिनियम की एक महत्वपूर्ण विशेषता बन गया है। उपभोक्ता मंचों से जुड़े मध्यस्थता केंद्र पक्षों को सौहार्दपूर्ण और शीघ्रता से विवादों को हल करने में सक्षम बनाते हैं, जो न्याय के कम टकराव वाले मॉडलों की ओर व्यापक बदलाव को दर्शाता है। ऑनलाइन विवाद समाधान का विस्तार इंटरनेट के बढ़ते उपयोग के साथ और भी अधिक हुआ है।

महत्वपूर्ण मामले उपभोक्ता अधिकारों की समझ को आकार देना जारी रखते हैं, क्योंकि वे प्रणाली की खूबियों और कमियों दोनों को उजागर करते हैं। चिकित्सा लापरवाही, भ्रामक विज्ञापनों और दोषपूर्ण सेवाओं से संबंधित अदालती फैसलों ने महत्वपूर्ण मिसालें कायम की हैं जो सुरक्षा और निष्पक्षता के अर्थ को व्यापक बनाती हैं। साथ ही, ये मामले प्रक्रियात्मक देरी, नागरिकों में सीमित जागरूकता और कानूनी उपायों तक असमान पहुँच जैसी चुनौतियों को भी उजागर करते हैं– ये मुद्दे हरगोपाल (1998) जैसे व्यापक आकलन और अंतरराष्ट्रीय निगरानी रिपोर्टों में भी दर्ज किए गए हैं।

महत्वपूर्ण प्रगति के बावजूद, भारत में उपभोक्ता अधिकारों को मजबूत करने में कई चुनौतियाँ बनी हुई हैं। उपलब्ध सुरक्षा उपायों के बारे में जागरूकता अभी भी असमान है, विशेषकर ग्रामीण और आर्थिक रूप से पिछड़े समुदायों में। कई उपभोक्ता शिकायत दर्ज करने या संस्थागत प्रक्रियाओं का उपयोग करने के बारे में अनिश्चित हैं, जिसके कारण शिकायतों की रिपोर्टिंग कम होती है। डिजिटल और ई-कॉमर्स बाजारों के तीव्र विकास से नई चिंताएँ उत्पन्न होती हैं, जिनमें डेटा गोपनीयता, भ्रामक ऑनलाइन समीक्षाएँ, विभिन्न प्लेटफार्मों पर जवाबदेही और कई मध्यस्थों से जुड़े मामलों में जिम्मेदारी तय करने में कठिनाई शामिल है। इन चुनौतियों से निपटने के लिए नीतिगत ढाँचों में निरंतर अनुकूलन और मजबूत नियामक निगरानी की आवश्यकता है।

उपभोक्ता संरक्षण का भविष्य इस बात पर निर्भर करेगा कि कानूनी व्यवस्था विकसित होती प्रौद्योगिकियों, विस्तारित बाजारों और जनता की बदलती अपेक्षाओं के अनुरूप कितनी अच्छी तरह ढल पाती है। उपभोक्ता अधिकारों को व्यापक मानवाधिकार ढाँचे में अधिक स्पष्ट रूप से एकीकृत करने से इस विचार को बल मिल सकता है कि आर्थिक लेन-देन में हमेशा व्यक्तिगत स्वायत्तता, गरिमा और निष्पक्षता का सम्मान किया जाना चाहिए। भारत में न्यायिक व्याख्या, बक्सी (1987) और हरगोपाल (1998) जैसे विद्वानों के चिंतन और एमनेस्टी इंटरनेशनल जैसे संगठनों के वैश्विक दृष्टिकोणों के समर्थन से अधिकारों पर चर्चा निरंतर विकसित हो रही है, ऐसे में उपभोक्ता अधिकार यह सुनिश्चित करने का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बने रहेंगे कि विकास, नागरिकता और शासन व्यवस्था इस तरह से संचालित हो जो प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा और सशक्तिकरण करे।

## भाग E – संश्लेषण और समकालीन प्रासंगिकता

भारत में मानवाधिकारों की व्यापक समझ के लिए यह जानना आवश्यक है कि संवैधानिक, कानूनी और संस्थागत ढाँचे किस प्रकार परस्पर क्रिया करके अधिकारों के वादे और व्यवहार दोनों को आकार देते हैं। पूर्व के अनुभागों में हुई चर्चाओं से स्पष्ट होता है कि ये ढाँचे एक-दूसरे से अलग नहीं हैं, बल्कि एक स्तरित प्रणाली का निर्माण करते हैं, जिसमें संवैधानिक गारंटी मानक आधार प्रदान करती है, कानून विस्तृत प्रक्रियाएँ उपलब्ध कराता है, और विशेष संस्थाएँ इन प्रतिबद्धताओं को रोजमर्रा के अनुभव में रूपांतरित करती हैं। मौलिक अधिकार, निर्देशक सिद्धांत और मौलिक कर्तव्य गरिमा और न्याय की रक्षा के लिए दार्शनिक और कानूनी आधार स्थापित करते हैं, जबकि उपभोक्ता मंच, मानवाधिकार आयोग और न्यायिक संस्थाएँ यह सुनिश्चित करती हैं कि उल्लंघन होने पर अधिकारों को लागू किया जा सके। इसलिए भारतीय मॉडल एक एकल संरचना नहीं है, बल्कि परस्पर जुड़ी जिम्मेदारियों का एक जाल है, जिनमें से प्रत्येक इस विचार को पुष्ट करती है कि सार्वजनिक जीवन के सभी क्षेत्रों में अधिकारों का सम्मान किया जाना चाहिए।

इस नेटवर्क को मजबूत करने में नागरिक समाज ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारत के आधुनिक इतिहास में सामाजिक आंदोलनों, नागरिक समूहों और जनहित अधिवक्ताओं ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है।उनकी मुखर मांगें अक्सर संवैधानिक पाठ में प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने वाली बातों से कहीं आगे तक जाती हैं। उनके हस्तक्षेपों ने जातिगत भेदभाव, लिंग आधारित हिंसा, बंधुआ मजदूरी, विस्थापन और डिजिटल वातावरण में निजता के उल्लंघन जैसी चिंताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है। इन प्रयासों ने संस्थानों को न्यायिक व्याख्या, प्रशासनिक सुधारों और नए कानूनों के माध्यम से रचनात्मक रूप से प्रतिक्रिया देने के लिए प्रोत्साहित किया है। नागरिकों की मुद्दों पर एकजुट होने की क्षमता, चाहे वह स्थानीय अभियानों, कानूनी कार्रवाई या डिजिटल सक्रियता के माध्यम से हो, ने अधिकारों के विमर्श को अधिक समावेशी और बदलती सामाजिक वास्तविकताओं के प्रति अधिक संवेदनशील बनाया है। जमीनी स्तर के संगठन, महिला समूह, आदिवासी अधिकार नेटवर्क और युवा नेतृत्व वाली पहलें अधिकारों की समझ और कार्यान्वयन को आकार देना जारी रखती हैं, यह पुष्टि करते हुए कि लोकतांत्रिक भागीदारी एक कार्यशील अधिकार ढाँचे के लिए केंद्रीय बनी हुई है।

समकालीन घटनाक्रम अधिकारों के अर्थ को और भी व्यापक बना रहे हैं, क्योंकि इनमें ऐसे नए क्षेत्र शामिल हो रहे हैं जिनकी कल्पना कई पूर्व कानूनी दस्तावेजों के निर्माण के समय पूरी तरह से नहीं की गई थी। उदाहरण के लिए, डिजिटल अधिकार निजता, निगरानी, डेटा सुरक्षा और सूचना तक पहुँच से संबंधित चर्चाओं का केंद्र बन गए हैं। जैसे-जैसे रोजमर्रा की बातचीत ऑनलाइन प्लेटफॉर्म पर स्थानांतरित हो रही है, एल्गोरिथम की निष्पक्षता, व्यक्तिगत डेटा की सुरक्षा और डिजिटल स्थानों की सुरक्षा में राज्य और निजी संस्थाओं की जिम्मेदारियों से संबंधित प्रश्न उभर रहे हैं। पर्यावरणीय अधिकारों को भी प्रमुखता मिली है क्योंकि न्यायालय और कार्यकर्ता स्वस्थ पर्यावरण और जीवन के अधिकार के बीच संबंध को उजागर कर रहे हैं। जलवायु परिवर्तन, प्रदूषण और संसाधनों की कमी जैसे मुद्दे समानता और भावी पीढ़ियों के कल्याण से संबंधित व्यापक चिंताओं से जुड़े हुए हैं। सामाजिक समावेशन एक और महत्वपूर्ण क्षेत्र बना हुआ है, जिसमें विकलांग व्यक्तियों, धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यकों, शरणार्थियों, लैंगिक विविधता वाले समुदायों और आर्थिक रूप से कमजोर आबादी के अधिकारों को लेकर निरंतर बहस जारी है। ये उभरते क्षेत्र दर्शाते हैं कि अधिकारों का दायरा तकनीकी परिवर्तन, पर्यावरणीय दबावों और बदलती सामाजिक अपेक्षाओं से लगातार प्रभावित हो रहा है।

छात्रों के लिए मानवाधिकारों को स्थिर के बजाय गतिशील रूप में समझना आवश्यक है। अधिकार केवल अमूर्त सिद्धांत नहीं हैं, बल्कि कार्यस्थलों, विद्यालयों, बाजारों और सार्वजनिक संस्थानों में लिए जाने वाले निर्णयों को भी प्रभावित करते हैं। इन्हें कानूनी प्रक्रियाओं जैसे कि रिट या उपभोक्ता शिकायतों के माध्यम से लागू किया जा सकता है, लेकिन इसके लिए जागरूकता, सहभागिता और आलोचनात्मक चिंतन के माध्यम से सक्रिय भागीदारी की भी आवश्यकता होती है। अधिकारों की संदर्भ-संवेदनशील प्रकृति को पहचानना छात्रों को यह समझने में मदद करता है कि न्यायिक व्याख्याएँ क्यों विकसित होती हैं, विधायिकाएँ नए कानून क्यों बनाती हैं और नागरिक समाज को उभरती चुनौतियों के प्रति सतर्क क्यों रहना चाहिए। यह दृष्टिकोण शिक्षार्थियों को अधिकारों को केवल हक के रूप में नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक जीवन को बनाए रखने वाली साझा जिम्मेदारियों के रूप में देखने के लिए प्रोत्साहित करता है। जैसे-जैसे भारत विकास, विविधता और संवैधानिक मूल्यों के बीच संतुलन बनाए रखने का प्रयास करता है, मानवाधिकारों का अध्ययन छात्रों को एक ऐसी व्यवस्था में अपनी भूमिका को समझने में सक्षम बनाता है जो परंपराओं में निहित होने के साथ-साथ परिवर्तन के लिए भी खुली है।

## खंड A – वंचित समूहों के मानवाधिकार: दलित, आदिवासी, महिलाएं

## खंडः B – आदिवासी, किसान और असंगठित श्रमिक

## खंडः C – शरणार्थी और मानवीय जिम्मेदारियाँ

## खंडः D – आतंकवाद और मानवाधिकार

## खंड E – संश्लेषण और शैक्षणिक चिंतन

पूर्ववर्ती इकाइयों में मानवाधिकारों के अध्ययन ने दार्शनिक और ऐतिहासिक आधारों से लेकर उन व्यावहारिक संरचनाओं तक एक स्पष्ट प्रगति को दर्शाया जिनके माध्यम से अधिकारों को मान्यता दी जाती है, संरक्षित किया जाता है और लागू किया जाता है। इकाई I ने स्थापित किया कि मानवाधिकार लंबी सभ्यतागत परंपराओं से उत्पन्न होते हैं और नैतिक तर्क, राजनीतिक संघर्ष और विकसित होती सामाजिक चेतना के माध्यम से धीरे-धीरे आकार लेते हैं। इकाई II ने आधुनिक अधिकार विमर्श को आकार देने वाले अंतर्राष्ट्रीय ढाँचों, जिनमें मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा और वैश्विक समुदाय के भीतर राज्य के दायित्वों को परिभाषित करने वाले बाध्यकारी समझौते शामिल हैं, को प्रस्तुत करके इस समझ का विस्तार किया। इकाई III ने इन विकासों को भारतीय संदर्भ में लाया, यह दर्शाते हुए कि संवैधानिक गारंटी, वैधानिक सुरक्षा, न्यायिक व्याख्याएँ और संस्थागत तंत्र सामूहिक रूप से एक लोकतांत्रिक शासन प्रणाली के भीतर व्यक्तियों के अधिकारों को कैसे सुदृढ़ करते हैं। इनमें से प्रत्येक इकाई ने इस बात पर जोर दिया कि मानवाधिकार स्थिर विचार नहीं हैं, बल्कि वे जीवंत सिद्धांत हैं जो नई सामाजिक आवश्यकताओं, तकनीकी परिवर्तनों और बदलती राजनीतिक वास्तविकताओं के अनुरूप ढलते हैं। (बक्सी, 1987; हरगोपाल, 1998)

इकाई IV इसी आधार पर आगे बढ़ती है और अधिकारों की संस्थागत और कानूनी संरचना से हटकर विभिन्न सामाजिक संदर्भों में उत्पन्न होने वाली ठोस चुनौतियों पर ध्यान केंद्रित करती है। यद्यपि भारतीय संविधान समानता, गरिमा और न्याय के लिए एक सशक्त ढाँचा प्रदान करता है, और राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग जैसी संस्थाएँ निवारण के लिए संरचित मार्ग प्रदान करती हैं, फिर भी अधिकारों का वास्तविक अनुभव क्षेत्रों, समुदायों और सामाजिक-आर्थिक स्थितियों में भिन्न-भिन्न होता रहता है। इसलिए यह इकाई उन क्षेत्रों का अध्ययन करती है जहाँ ऐतिहासिक प्रतिकूलताओं, भौगोलिक अलगाव, आर्थिक अस्थिरता या संघर्ष एवं विस्थापन की परिस्थितियों के कारण अधिकारों का संरक्षण अधिक जटिल हो जाता है। इसका उद्देश्य भारतीय समाज को अपूर्ण रूप में चित्रित करना नहीं है, बल्कि यह समझना है कि नीतिगत ध्यान, संस्थागत जवाबदेही और जिम्मेदार नागरिकता के माध्यम से न्याय के संवैधानिक वादे को निरंतर कैसे सुदृढ़ किया जाना चाहिए।

इकाई IV का एक केंद्रीय विषय यह मान्यता है कि विभिन्न समूह मानवाधिकार ढाँचे का अलग-अलग तरीकों से अनुभव करते हैं। दलित, आदिवासी और महिलाओं जैसे समुदाय संरचनात्मक और सामाजिक बाधाओं का सामना करते रहते हैं जो कानूनी गारंटी मौजूद होने पर भी अधिकारों की प्रभावी प्राप्ति को सीमित कर सकते हैं। इसी तरह, आदिवासी समुदाय, किसान और असंगठित श्रमिक अक्सर आर्थिक और प्रशासनिक वातावरण में काम करते हैं जहाँ अधिकारों

का प्रवर्तन राज्य संस्थानों तक पहुँच, साक्षरता स्तर और स्थानीय शासन संरचनाओं पर निर्भर हो जाता है।वैश्विक और घरेलू चुनौती के रूप में आतंकवाद के उदय ने अधिकारों के परिदृश्य को और जटिल बना दिया है, जिसके लिए राज्यों को संवैधानिक मूल्यों और उचित प्रक्रिया के प्रति प्रतिबद्धता बनाए रखते हुए मजबूत सुरक्षा ढाँचे विकसित करने की आवश्यकता है।

अतः इकाई IV मानवाधिकारों का उन संदर्भों में विश्लेषण करती है जहाँ अधिकारों, दायित्वों और सामूहिक सुरक्षा के बीच तनाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। यह एक संतुलित और अकादमिक रूप से सावधानीपूर्वक दृष्टिकोण अपनाती है, प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा की रक्षा के संवैधानिक दायित्व को स्वीकार करते हुए, साथ ही सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने और राष्ट्रीय हितों की रक्षा करने के राज्य के दायित्व को भी मान्यता देती है। समकालीन विद्वत्ता, जिसमें बक्सी (1987), कोठारी और सेठी (1991) के कार्य और शासन एवं अधिकारों के हालिया विश्लेषण शामिल हैं, इस बात पर बल देते हैं कि लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ ऐसी चुनौतियों की पहचान करके और संस्थागत लचीलेपन को मजबूत करके विकसित होती हैं। यह इकाई छात्रों को इन विषयों को संवैधानिक व्यवस्था की आलोचना के रूप में नहीं, बल्कि एक विविध और तेजी से बदलते समाज में अधिकारों को अधिक प्रभावी ढंग से कैसे साकार किया जा सकता है, इस पर चिंतन करने के अवसरों के रूप में समझने के लिए आमंत्रित करती है।

## खंड A – वंचित समूहों के मानवाधिकार: दलित, आदिवासी, महिलाएँ

### A1. ऐतिहासिक और संवैधानिक पृष्ठभूमि

भारत में हाशिए पर रहने वाले लोगों की समस्याओं को दूर करने का दृष्टिकोण एक ऐसे सभ्यतागत लोकाचार पर आधारित है जो गरिमा, सामाजिक सद्भाव और सामूहिक कल्याण पर बल देता है। इतिहास भर में, सामाजिक संहिता, नैतिक शिक्षा और सामुदायिक प्रथाओं ने कमजोर समूहों के प्रति जिम्मेदारियों को मान्यता दी है, जिससे समाज में समानता के मानदंडों को सुदृढ़ किया गया है। औपनिवेशिक शासन ने पारंपरिक संरचनाओं को बाधित किया और अक्सर असमानताओं को और बढ़ा दिया, जिससे सामाजिक रूप से वंचित समूहों के लिए चुनौतियाँ उत्पन्न हुईं। स्वतंत्रता के बाद निर्मित संविधान को इन चुनौतियों का व्यवस्थित रूप से समाधान करने के लिए एक कानूनी और संस्थागत ढाँचे के माध्यम से तैयार किया गया था जो संरचनात्मक कमियों को दूर करने में सक्षम है। मौलिक अधिकार कानून के समक्ष समानता, गैर-भेदभाव और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की लागू करने योग्य गारंटी प्रदान करते हैं, जो नागरिक और राजनीतिक भागीदारी का आधार स्थापित करते हैं। राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत शिक्षा, आजीविका, स्वास्थ्य सेवा और सामाजिक कल्याण को बढ़ावा देने में राज्य का मार्गदर्शन करते हैं, जिससे सामाजिक-आर्थिक अधिकारों का समर्थन होता है। राजनीतिक प्रतिनिधित्व, शिक्षा और रोजगार में पूरक सकारात्मक उपाय हाशिए पर रहने वाले समुदायों के लिए सुरक्षा को और मजबूत करते हैं। ये संवैधानिक तंत्र मिलकर एक शासन दर्शन को दर्शाते हैं जो वंचित समूहों को राष्ट्रीय जीवन की मुख्यधारा में एकीकृत करने के लिए कानून, लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं और विकासोन्मुखी नीतियों पर निर्भर करता है, जिससे भारत की संवैधानिक दृष्टि और ऐतिहासिक संदर्भ के अनुरूप अधिकारों की प्राप्ति संभव हो पाती है। (ऑस्टिन, 1999: भार्गव, 2008)

### A2. दलित और अधिकारों का कानूनी-सामाजिक ढाँचा

दलित एक ऐसा समुदाय है जो ऐतिहासिक रूप से सामाजिक बहिष्कार, समानता से वंचित रहने और अवसरों तक सीमित पहुँच का शिकार रहा है। संविधान अस्पृश्यता को प्रतिबंधित करता है और कानून के तहत समान संरक्षण की गारंटी देता है, जो दलितों के लिए कानूनी सुरक्षा का आधार बनता है। नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम और अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम सहित वैधानिक उपाय इन सुरक्षाओं को सुदृढ़ करते हैं। भेदभाव, हिंसा और सार्वजनिक संसाधनों तक पहुँच से वंचित होने जैसी समस्याओं का समाधान करना। विधायिकाओं में आरक्षित सीटों के माध्यम से राजनीतिक प्रतिनिधित्व, शिक्षा और सार्वजनिक रोजगार में सकारात्मक कार्रवाई के साथ मिलकर, सामाजिक गतिशीलता और समावेशी भागीदारी के अवसर प्रदान करता है। अधिकारों की चार पीढ़ियाँ इस ढाँचे में परिलक्षित होती हैं: नागरिक-राजनीतिक अधिकार कानूनी समानता और भागीदारी सुनिश्चित करते हैं; सामाजिक-आर्थिक अधिकार शिक्षा, रोजगार और कल्याण तक पहुँच का विस्तार करते हैं; सामूहिक अधिकार सामुदायिक गरिमा और पहचान को बनाए रखते हैं; और उभरते डिजिटल अधिकार तकनीकी और सूचनात्मक क्षेत्रों में समावेश की रक्षा करते हैं। सामाजिक आंदोलनों, शैक्षिक पहलों और नेतृत्व परंपराओं ने इन ढाँचों के भीतर दलित अनुभवों को आकार देने में योगदान दिया है, यह दर्शाते हुए कि संरचनात्मक कमियों का समाधान टकरावपूर्ण दृष्टिकोणों के बजाय संवैधानिक, विधायी और संस्थागत उपायों के माध्यम से किया जाता है। (बक्सी, 2002; कोठारी और सेठी, 2011)लोकतांत्रिक शासन, न्यायिक व्याख्या और विकास कार्यक्रमों का एकीकरण यह सुनिश्चित करता है कि दलितों के अधिकार प्रवर्तनीय, संदर्भ-संवेदनशील और निरंतर विकसित होते रहें।

### A3. आदिवासी और भूमि, स्वायत्तता और विकास से संबंधित प्रश्न

आदिवासी या स्वदेशी जनजातीय समुदाय, भूमि, संस्कृति और सामूहिक स्वायत्तता से जुड़ी चुनौतियों का सामना करते हैं। संविधान पांचवीं और छठी अनुसूची के माध्यम से इन चिंताओं को मान्यता देता है, और स्वशासन, पारंपरिक प्रथाओं के संरक्षण और प्रशासनिक स्वायत्तता के लिए तंत्र प्रदान करता है। इन प्रावधानों का उद्देश्य सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करना है, साथ ही समुदायों को राष्ट्रीय विकास प्रक्रियाओं में भाग लेने में सक्षम बनाना है। पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों तक विस्तार) अधिनियम और वन अधिकार अधिनियम जैसे विधायी उपाय भूमि अधिकारों, संसाधनों तक पहुँच और शासन में भागीदारी के लिए ढाँचा स्थापित करते हैं, जो सामुदायिक हितों के संरक्षण के साथ विकासात्मक एकीकरण की आवश्यकता को संतुलित करते हैं। बुनियादी ढाँचे के विस्तार और आजीविका कार्यक्रमों सहित विकास पहलों को सांस्कृतिक पहचान का सम्मान करते हुए सामाजिक-आर्थिक अवसरों को बढ़ाने के लिए डिज़ाइन किया गया है। स्वदेशी अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय मानदंड एक तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हैं, फिर भी भारतीय ढाँचा संवैधानिक सिद्धांतों और संस्थागत तंत्रों पर दृढ़ता से आधारित है। लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं, न्यायिक निरीक्षण और प्रशासनिक सुरक्षा उपायों के संयोजन के माध्यम से, आदिवासी समुदायों को स्वायत्तता और एकीकरण दोनों को प्राप्त करने में सहायता प्रदान की जाती है, जो एक ऐसे मॉडल को दर्शाता है जो अधिकारों के संरक्षण को विकासोन्मुखी शासन से जोड़ता है (बाविस्कर, 2005)। यह दृष्टिकोण सुनिश्चित करता है कि आदिवासी अधिकारों को राष्ट्रीय संदर्भ में समझा जाए, ऐतिहासिक असमानताओं को दूर किया जाए और साथ ही देश के सामाजिक-आर्थिक परिवेश में समावेश को बढ़ावा दिया जाए।

### A4. महिलाओं के अधिकार और विस्तारित संवैधानिक क्षितिज

भारत में महिलाओं के अधिकार नागरिक, राजनीतिक, सामाजिक-आर्थिक और समकालीन डिजिटल क्षेत्रों में संवैधानिक गारंटियों के गतिशील अनुप्रयोग को दर्शाते हैं। संविधान कानून के समक्ष समानता, गैर-भेदभाव और व्यक्तिगत स्वतंत्रता सुनिश्चित करता है, जो लैंगिक न्याय के लिए कानूनी आधार प्रदान करता है। नागरिक-राजनीतिक अधिकार शारीरिक स्वायत्तता, व्यक्तिगत सुरक्षा और भेदभाव से मुक्ति की रक्षा करते हैं, जबकि सामाजिक-आर्थिक अधिकार शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य और कल्याणकारी अधिकारों तक विस्तारित हैं। राजनीतिक प्रतिनिधित्व शासन और निर्णय लेने में महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करता है, और उभरते डिजिटल अधिकार सूचना तक पहुँच, ऑनलाइन सुरक्षा और तकनीकी समावेशन को संबोधित करते हैं। न्यायिक व्याख्याओं सहित कार्यस्थल समानता, घरेलू हिंसा और उत्पीड़न से सुरक्षा पर दिए गए निर्णयों ने इन अधिकारों को काफी मजबूत किया है। घरेलू हिंसा से महिलाओं की सुरक्षा अधिनियम, मातृत्व लाभ कानून और कार्यस्थल सुरक्षा नियम जैसे विधायी सुधार संवैधानिक गारंटियों के पूरक हैं और सामाजिक-आर्थिक सशक्तिकरण का समर्थन करते हैं। स्वास्थ्य, शिक्षा, वित्तीय समावेशन और कौशल विकास को लक्षित करने वाली विकास पहल महिलाओं की सार्वजनिक और आर्थिक जीवन में भागीदारी को और सक्षम बनाती हैं। संवैधानिक कानून, विधायी ढाँचे, न्यायिक व्याख्या और विकास-उन्मुख नीतियों को मिलाकर, भारत अपने सभ्यतागत मूल्यों और समकालीन सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप लैंगिक न्याय के लिए एक व्यापक और संस्थागत रूप से आधारित दृष्टिकोण बनाए रखता है।

## खंड B – आदिवासी, किसान और असंगठित श्रमिक

### B1. विकासात्मक शासन के अंतर्गत जनजातीय समुदायों के अधिकार

भारत में आदिवासी समुदाय भौगोलिक स्थिति, संसाधनों की उपलब्धता और ऐतिहासिक हाशिए पर रहने के कारण उत्पन्न अनूठी चुनौतियों का सामना करते रहते हैं। संविधान पांचवीं और छठी अनुसूची के माध्यम से इन समुदायों को मान्यता देता है, जो स्थानीय स्वशासन, सांस्कृतिक संरक्षण और प्रशासनिक स्वायत्तता के लिए तंत्र प्रदान करती हैं। पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों तक विस्तार) अधिनियम और वन अधिकार अधिनियम सहित विधायी ढाँचे भूमि, वन और पारंपरिक आजीविका के लिए कानूनी सुरक्षा प्रदान करते हैं। इन उपायों का उद्देश्य सामुदायिक पहचान और आत्मनिर्णय को संरक्षित करते हुए विकासात्मक पहलों में भागीदारी को सक्षम बनाना है। राज्य का दृष्टिकोण राष्ट्रीय विकास उद्देश्यों को सामुदायिक अधिकारों के साथ सामंजस्य स्थापित करने पर बल देता है, यह सुनिश्चित करते हुए कि अवसंरचना, खनन, वानिकी और ग्रामीण आजीविका से संबंधित परियोजनाओं को सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रभावों को ध्यान में रखते हुए लागू किया जाए। इस प्रकार आदिवासी अधिकारों को न केवल नागरिक और राजनीतिक सुरक्षा के रूप में बल्कि सामाजिक-आर्थिक अधिकारों और सामूहिक अधिकारों के रूप में भी समझा जाता है जो गरिमा, भागीदारी और विकास के अवसरों तक समान पहुँच को सुगम बनाते हैं। लोकतांत्रिक संस्थाएं, न्यायिक निरीक्षण और प्रशासनिक प्रक्रियाएँ सामूहिक रूप से इन उद्देश्यों का समर्थन करती हैं, जो संवैधानिक सिद्धांतों पर आधारित और स्थानीय संदर्भों के प्रति उत्तरदायी अधिकार-आधारित शासन ढाँचे को दर्शाती हैं।(बाविस्कर, 2005)

### B2. क्षेत्रीय शक्तियाँ, कृषि अर्थव्यवस्थाएँ और मानव संसाधन

किसान भारत की कृषि अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं, और उनके अधिकार आजीविका सुरक्षा, भूमि तक पहुँच, सिंचाई, ऋण और बाजारों से आंतरिक रूप से जुड़े हुए हैं। संवैधानिक प्रावधान और नीतिगत ढाँचे इन्हें सामाजिक-आर्थिक अधिकारों के रूप में मान्यता देते हैं जो व्यक्तियों को उत्पादक जीवन में सार्थक रूप से भाग लेने में सक्षम बनाते हैं। भूमि सुधार पहल, कृषि विस्तार सेवाएं, न्यूनतम समर्थन मूल्य तंत्र और ग्रामीण विकास कार्यक्रम आर्थिक सुरक्षा बढ़ाने और स्थायी आजीविका का समर्थन करने के लिए डिज़ाइन किए गए हैं। ये हस्तक्षेप व्यापक संवैधानिक लक्ष्यों की भी पूर्ति करते हैं, सामाजिक समानता को बढ़ावा देते हैं और ग्रामीण समाजों में संरचनात्मक असमानताओं को कम करते हैं। जबकि नागरिक और राजनीतिक अधिकार यह सुनिश्चित करते हैं कि किसान सहकारी संरचनाओं, निर्णय लेने वाले निकायों और वकालत चैनलों में शामिल हो सकें, सामाजिक-आर्थिक अधिकार आय, उत्पादकता और बाजार तक पहुँच से संबंधित मूर्त जरूरतों को पूरा करते हैं। सहकारी खेती और उत्पादक संगठनों सहित सामूहिक अधिकार, सामुदायिक लचीलेपन को मजबूत करते हैं, जबकि समकालीन डिजिटल अधिकार सूचना तक पहुँच को सुगम बनाते हैं, प्रौद्योगिकी और वित्तीय सेवाएं। इसलिए किसान अधिकारों का ढाँचा बहुआयामी है, जो ऐतिहासिक संदर्भ, संवैधानिक प्रतिबद्धताओं और विकास-उन्मुख नीतिगत हस्तक्षेपों को एकीकृत करता है, यह सुनिश्चित करते हुए कि ग्रामीण आबादी मानवीय गरिमा, सामाजिक भागीदारी और आर्थिक स्थिरता बनाए रख सके।(देशपांडे, 2003; रामचंद्रन, 2015)

### B3. असंगठित श्रमिक और समकालीन श्रम संक्रमण

भारत के श्रम बल में असंगठित या अनौपचारिक क्षेत्र के श्रमिकों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा शामिल है, जिनमें दिहाड़ी मजदूर, निर्माण श्रमिक, घरेलू कामगार, छोटे व्यापारी और गिग इकॉनमी में काम करने वाले लोग शामिल हैं। उनके अधिकारों को श्रम कल्याण योजनाओं, सामाजिक सुरक्षा उपायों और नियामक तंत्रों के संयोजन के माध्यम से सुनिश्चित किया जाता है, जिनका उद्देश्य सुरक्षित कार्य परिस्थितियों, उचित पारिश्रमिक और स्वास्थ्य एवं बीमा लाभों तक पहुँच को बढ़ावा देना है। सामाजिक सुरक्षा संहिता और विभिन्न राज्य स्तरीय कल्याणकारी कार्यक्रम जैसे कानून इन श्रमिकों को संरचित सहायता प्रदान करते हैं, जो अनौपचारिक रोजगार, प्रवासन और व्यावसायिक खतरों से जुड़ी कमजोरियों को ध्यान में रखते हैं। इसके अलावा, डिजिटलीकरण और गिग तथा प्लेटफॉर्म आधारित कार्यों के उदय ने श्रम अधिकारों में नए आयाम जोड़े हैं, जिनमें प्रौद्योगिकी तक पहुँच, वित्तीय समावेशन और गैर-पारंपरिक रोजगार संदर्भों में सामाजिक सुरक्षा शामिल हैं। संवैधानिक ढाँचा यह सुनिश्चित करता है कि नागरिक और राजनीतिक अधिकार श्रमिकों को संगठित होने, सामूहिक निर्णय लेने में भाग लेने और निवारण प्राप्त करने में सक्षम बनाते हैं, जबकि सामाजिक-आर्थिक अधिकार कल्याण, कौशल विकास और आय सुरक्षा के लिए नीतियों का आधार बनते हैं। कानूनी सुरक्षा उपायों, संस्थागत तंत्रों और विकासात्मक कार्यक्रमों को एकीकृत करके, भारत का दृष्टिकोण असंगठित श्रमिकों के लिए गरिमा, भागीदारी और समान व्यवहार सुनिश्चित करने का प्रयास करता है, जो एक निरंतर, विकसित रणनीति को दर्शाता है जो विविध श्रम संदर्भों में अधिकार-आधारित संरक्षण के साथ आर्थिक विकास को संतुलित करता है। (कुमार और शर्मा, 2018: चंद्रशेखर, 2020)

## खंड C – शरणार्थी और मानवीय जिम्मेदारियाँ

### C1. शरणार्थियों के प्रति भारत का मानवीय दृष्टिकोण

भारत में ऐतिहासिक रूप से विस्थापित व्यक्तियों को शरण और सहायता प्रदान करने की परंपरा रही है, जो आतिथ्य सत्कार और सामाजिक उत्तरदायित्व के सभ्यतागत मूल्यों पर आधारित है। अपने पूरे इतिहास में, उपमहाद्वीप ने राजनीतिक, सामाजिक और प्राकृतिक कारणों से जनसंख्या के विस्थापन को देखा है, और क्रमिक प्रशासनों ने सार्वजनिक व्यवस्था और सुरक्षा सुनिश्चित करते हुए इन विस्थापनों का प्रबंधन किया है। समकालीन संदर्भ में, भारत मानवीय दायित्वों और राष्ट्रीय हितों दोनों को ध्यान में रखते हुए नीतियों के माध्यम से शरणार्थियों को आश्रय देना जारी रखता है। यह दृष्टिकोण इस संतुलित समझ को दर्शाता है कि शरणार्थियों को सहायता प्रदान करना मानवीय गरिमा के सिद्धांतों और अंतर्राष्ट्रीय मानवीय मानदंडों के अनुरूप है, साथ ही जनसांख्यिकीय और सुरक्षा संबंधी गतिशीलता पर भी सावधानीपूर्वक विचार करना आवश्यक है। राज्य की नीतियों का उद्देश्य कमजोर आबादी को आश्रय, बुनियादी सेवाएँ और सुरक्षा प्रदान करना है, जिससे कानून, व्यवस्था और राष्ट्रीय स्थिरता बनाए रखने वाले तंत्रों के साथ-साथ सामाजिक-आर्थिक और नागरिक सुरक्षा को एकीकृत किया जा सके।(कपूर, 2012; यूएनएचसीआर, 2020)

### C2. शरणार्थियों के लिए कानूनी और प्रशासनिक ढांचा

कानूनी तौर पर, भारत में कोई समर्पित राष्ट्रीय शरणार्थी कानून नहीं है, लेकिन संवैधानिक प्रावधानों, न्यायिक व्याख्या और प्रशासनिक उपायों के माध्यम से सुरक्षा प्रदान की जाती है। संविधान भारत के सभी व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों और स्वतंत्रता की रक्षा करता है, जीवन, स्वतंत्रता और उचित प्रक्रिया तक पहुँच सुनिश्चित करता है, जो शरणार्थियों और शरण चाहने वालों के संरक्षण का आधार बनते हैं। न्यायपालिका ने विभिन्न निर्णयों में इन अधिकारों की पुष्टि की है, यह सिद्धांत स्थापित करते हुए कि मानवीय दायित्वों को राष्ट्रीय कानून और सुरक्षा के ढाँचे के भीतर संचालित होना चाहिए। गृह मंत्रालय और राज्य अधिकारियों द्वारा प्रयोग किए जाने वाले कार्यकारी विवेकाधिकार के माध्यम से शरणार्थियों के प्रवेश, पंजीकरण और एकीकरण का प्रबंधन किया जाता है, जिसमें अस्थायी परमिट जारी करना या शरणार्थी स्थिति की मान्यता देना शामिल है। प्रशासनिक ढाँचे यह सुनिश्चित करते हैं कि स्थानीय अधिकारियों के समन्वय से और आवश्यकता पड़ने पर अंतरराष्ट्रीय और नागरिक समाज संगठनों के सहयोग से सहायता, आश्रय, स्वास्थ्य सेवा और शिक्षा तक पहुँच प्रदान की जाए। ये उपाय एक ऐसी प्रणाली को दर्शाते हैं जिसमें नागरिक, राजनीतिक, सामाजिक-आर्थिक और सामूहिक अधिकार एक साथ आते हैं, जिससे विस्थापित व्यक्ति भारत के संवैधानिक और संस्थागत अनिवार्यताओं को बनाए रखते हुए गरिमा और सुरक्षा बनाए रख सकते हैं।(चोपड़ा, 2016; भाटिया, 2019)

### C3. समकालीन चुनौतियाँ और क्षेत्रीय वास्तविकताएँ

भारत में समकालीन शरणार्थी प्रबंधन में राष्ट्रीय सुरक्षा और सामाजिक एकता के अनुरूप सीमा पार प्रवासन, पर्यावरणीय विस्थापन और जनसांख्यिकीय दबावों का समाधान करना शामिल है। संघर्ष, जलवायु परिवर्तन और सामाजिक-आर्थिक संकट के कारण होने वाला प्रवासन प्रशासनिक और मानवीय चुनौतियाँ प्रस्तुत करता है, जिसके लिए स्थानीय शासन संरचनाओं को विकास या सुरक्षा उद्देश्यों से समझौता किए बिना प्रभावी ढंग से प्रतिक्रिया देने की आवश्यकता होती है। इसलिए शरणार्थी सहायता कार्यक्रम एक ऐसे ढाँचे के भीतर संचालित होते हैं जो मानव सुरक्षा, मौलिक अधिकारों और सार्वजनिक सेवाओं तक पहुँच को एकीकृत करता है, साथ ही सीमा प्रबंधन और सुरक्षा एजेंसियों के साथ समन्वय

सुनिश्चित करता है। मानवीय प्रतिक्रिया तंत्र शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल और आजीविका सहायता के माध्यम से महिलाओं, बच्चों और बुजुर्गों सहित कमजोर आबादी की सुरक्षा पर भी जोर देते हैं। यह दृष्टिकोण संवैधानिक गारंटी, विकास-उन्मुख नीतियों और अंतरराष्ट्रीय सर्वोत्तम प्रथाओं पर आधारित है, जो एक सुसंगत प्रणाली को दर्शाता है जो मानवीय जिम्मेदारियों को संप्रभुता, कानून और सामाजिक स्थिरता की अनिवार्यताओं के साथ संतुलित करती है। (UNHCR, 2020; कपूर, 2012)

## खंड D – आतंकवाद और मानवाधिकार

### D1. आतंकवाद को समझना : मानवाधिकार चुनौती

आतंकवाद मानव सुरक्षा और संवैधानिक व्यवस्था दोनों के लिए एक जटिल चुनौती है, जो जीवन, स्वतंत्रता और सामाजिक स्थिरता को सीधे तौर पर खतरे में डालती है। भारत में, हिंसा के कृत्यों से नागरिकों की सुरक्षा को राज्य का एक मौलिक कर्तव्य माना जाता है, जो सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखने और कानून के शासन की रक्षा करने के संवैधानिक जनादेश में निहित है। साथ ही, आतंकवाद के प्रति प्रतिक्रिया संवैधानिक गारंटियों के ढाँचे के भीतर ही होनी चाहिए, यह सुनिश्चित करते हुए कि हिंसा को रोकने और उसका जवाब देने के उपाय नागरिक स्वतंत्रता या उचित प्रक्रिया को कमजोर न करें। आतंकवाद विरोधी संदर्भों में मानवाधिकार संबंधी चिंताओं में मनमानी हिरासत से व्यक्तियों की सुरक्षा, अभिव्यक्ति और सभा की स्वतंत्रता की रक्षा करना शामिल है। बक्सी (2002) और चौधरी (2018) जैसे विद्वान इस बात पर जोर देते हैं कि आतंकवाद से निपटने के लिए एक संतुलित दृष्टिकोण की आवश्यकता है जिसमें राज्य की सुरक्षा अनिवार्यताएँ न्याय, वैधता और आनुपातिकता के सिद्धांतों के साथ सह-अस्तित्व में हों, जिससे नागरिकों और प्रभावित समुदायों दोनों के अधिकारों की रक्षा हो सके।

### D2. भारत के कानूनी और सुरक्षा ढाँचे

भारत संवैधानिक प्रावधानों, विशेष कानूनों और संस्थागत तंत्रों के संयोजन के माध्यम से आतंकवाद से निपटता है। गैरकानूनी गतिविधियाँ (रोकथाम) अधिनियम जैसे कानून निवारक और दंडात्मक उपायों के लिए एक संरचित ढाँचा प्रदान करते हैं, साथ ही न्यायिक निगरानी और कानूनी प्रतिनिधित्व के अधिकार सहित प्रक्रियात्मक सुरक्षा उपायों को भी बनाए रखते हैं। गृह मंत्रालय द्वारा समन्वित जाँच एजेंसियों की भूमिका यह सुनिश्चित करती है कि खुफिया, पुलिसिंग और प्रशासनिक कार्य परिभाषित कानूनी मापदंडों के भीतर संचालित हों। न्यायालय हिरासत की समीक्षा करने, निष्पक्ष मुकदमों को सुनिश्चित करने और सुरक्षा संबंधी विचारों को नागरिक स्वतंत्रता के साथ संतुलित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यह कानूनी-संस्थागत ढाँचा एक ऐसी प्रणाली को दर्शाता है जिसमें सार्वजनिक व्यवस्था की सुरक्षा और संवैधानिक अधिकारों का प्रवर्तन परस्पर सुदृढ़ होते हैं, जो लोकतांत्रिक शासन और कानून के शासन सिद्धांतों के अनुरूप एक संतुलित दृष्टिकोण को प्रतिबिंबित करता है। (जैन, 2015; सिंह, 2017)

### D3. अधिकार, सुरक्षा और संरक्षण की नैतिकता

आतंकवाद-विरोधी उपायों में अक्सर व्यक्तियों की गिरफ्तारी, हिरासत, मुकदमे और निगरानी से संबंधित नैतिक और कानूनी प्रश्न उठते हैं। भारत में, सर्वोच्च न्यायालय का न्यायशास्त्र इस बात पर जोर देता है कि असाधारण सुरक्षा उपाय मौलिक अधिकारों के अनुरूप होने चाहिए, जिनमें मनमानी गिरफ्तारी से सुरक्षा, कानूनी उपायों तक पहुँच और राज्य

शक्ति के दुरुपयोग के खिलाफ सुरक्षा उपाय शामिल हैं। न्यायिक व्याख्याओं ने लगातार इस सिद्धांत को सुदृढ़ किया है कि निवारक या आपातकालीन कानून संवैधानिक गारंटियों का उल्लंघन नहीं कर सकते। इस संदर्भ में अधिकारों और सुरक्षा की चर्चा अंतरराष्ट्रीय सर्वोत्तम प्रथाओं तक भी विस्तारित है, जहाँ तुलनात्मक विश्लेषण आतंकवाद-विरोधी अभियानों में आनुपातिकता, पारदर्शिता और जवाबदेही के महत्व को उजागर करते हैं। इन उपायों का मार्गदर्शन करने वाला नैतिक ढाँचा यह सुनिश्चित करता है कि नागरिकों की रक्षा करने की राज्य की जिम्मेदारी मौलिक अधिकारों या कानूनी प्रणाली की वैधता से समझौता न करे। (बक्सी, 2002; ह्यूमन राइट्स वॉच, 2019)

### D4. समकालीन विकास और तकनीकी आयाम

डिजिटल युग आतंकवाद-विरोधी और मानवाधिकारों के बीच संबंधों को नए आयाम प्रदान करता है। साइबर सुरक्षा खतरे, ऑनलाइन कट्टरपंथ, गलत सूचना और डिजिटल निगरानी नागरिकों की सुरक्षा के लिए उपलब्ध साधनों और नागरिक स्वतंत्रता के जोखिमों दोनों को बढ़ाते हैं। निजता का अधिकार, डेटा संरक्षण और डिजिटल अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सहित चौथी पीढ़ी के अधिकारों को आतंकवाद-विरोधी रणनीतियों में सावधानीपूर्वक एकीकृत करने की आवश्यकता है। संस्थागत निगरानी द्वारा समर्थित भारत के नियामक ढाँचे का उद्देश्य व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए सुरक्षा के लिए प्रौद्योगिकी का उपयोग करना है। नीतिगत पहल और न्यायिक मार्गदर्शन इस बात पर जोर देते हैं कि डिजिटल हस्तक्षेप, चाहे निगरानी के लिए हो या खुफिया जानकारी जुटाने के लिए, संवैधानिक मानदंडों का पालन करना चाहिए, जिससे जवाबदेही, आनुपातिकता और मानवीय गरिमा का सम्मान सुनिश्चित हो सके। यह विकसित होता परिदृश्य दर्शाता है कि समकालीन युग में नागरिकों की सुरक्षा में पारंपरिक नागरिक और राजनीतिक अधिकारों, सामाजिक-आर्थिक स्थिति और अन्य संबंधित पहलुओं के बीच एक गतिशील संतुलन शामिल है।

## खंड E – संश्लेषण और शैक्षणिक चिंतन

इकाई I से IV तक प्रस्तुत भारत में मानवाधिकारों का अध्ययन एक जटिल और विकसित होते परिदृश्य को उजागर करता है जहाँ संवैधानिक आदर्श, लोकतांत्रिक प्रक्रियाएँ, विकासात्मक प्राथमिकताएँ और राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी विचार लगातार परस्पर क्रिया करते हैं। इकाई I ने मानवाधिकारों की ऐतिहासिक और दार्शनिक नींव का परिचय दिया, प्राचीन भारतीय नैतिक और सामाजिक ढाँचों से लेकर नागरिक, राजनीतिक, सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक आयामों को शामिल करने वाली आधुनिक व्याख्याओं तक उनके विकास का पता लगाया। इकाई II ने दिखाया कि कैसे अंतर्राष्ट्रीय घोषणाओं और संधियों ने अधिकारों की वैश्विक अवधारणाओं को आकार दिया, जबकि इकाई III ने इन ढाँचों को भारत की संवैधानिक और संस्थागत प्रणालियों के संदर्भ में रखा, जिसमें राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की भूमिका और अन्य तंत्र शामिल हैं जो व्यवहार में अधिकारों को लागू करते हैं। इकाई IV ने समकालीन भारत में विशिष्ट चुनौतियों की जाँच की, जिनमें हाशिए पर रहने वाले समूह, आदिवासी और असंगठित श्रमिक, शरणार्थी और आतंकवाद शामिल हैं, उन संदर्भों को दर्शाते हुए जिनमें अधिकारों को सावधानीपूर्वक व्याख्या, संरक्षण और सुदृढ़ीकरण की आवश्यकता होती है

इन सभी चर्चाओं के दौरान, यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकार स्थिर नहीं बल्कि गतिशील हैं, जो ऐतिहासिक विरासतों, सामाजिक परिवर्तनों, आर्थिक विकास और तकनीकी परिवर्तन के प्रति उत्तरदायी हैं। दलित, आदिवासी और महिलाओं जैसे हाशिए पर स्थित समूह संवैधानिक गारंटी, सकारात्मक नीतियों और संस्थागत हस्तक्षेपों के माध्यम से अधिकारों

का अनुभव करते हैं, जिनका उद्देश्य ऐतिहासिक कमियों को समकालीन अवसरों के साथ संतुलित करना है। इसी तरह, किसानों और असंगठित श्रमिकों के आर्थिक और श्रम अधिकारों के लिए कल्याणकारी उपायों, आजीविका सुरक्षा और सामाजिक-आर्थिक विकास रणनीतियों के बीच निरंतर तालमेल की आवश्यकता होती है। शरणार्थी संरक्षण भारतीय राज्य द्वारा संप्रभुता और जनसांख्यिकीय विचारों के साथ मानवीय जिम्मेदारियों के सावधानीपूर्वक समायोजन को दर्शाता है, जबकि आतंकवाद-विरोधी ढाँचे सार्वजनिक सुरक्षा को नागरिक स्वतंत्रता और डिजिटल अधिकारों के साथ संतुलित करने की आवश्यकता का उदाहरण देते हैं।

विद्यार्थियों के लिए, इन इकाइयों का संश्लेषण कई महत्वपूर्ण शैक्षणिक पाठों को रेखांकित करता है। पहला, भारत में मानवाधिकार कानून, शासन और समाज के परस्पर संबंध से मजबूत होते हैं, जहाँ न्यायिक व्याख्या, नीति कार्यान्वयन और नागरिक सहभागिता एक दूसरे को सुदृढ़ करते हैं। दूसरा, अधिकारों को समझने के लिए संदर्भ की जागरूकता आवश्यक है– ऐतिहासिक कमियाँ, स्थानीय शासन की वास्तविकताएँ और समकालीन सामाजिक-आर्थिक और तकनीकी चुनौतियाँ, ये सभी इस बात को प्रभावित करती हैं कि अधिकारों को कैसे साकार किया जाता है। तीसरा, सहभागी संस्थाएँ, जागरूक नागरिक और संतुलित नीतिगत दृष्टिकोण यह सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक हैं कि अधिकार न केवल संवैधानिक पाठ में घोषित हों, बल्कि दैनिक जीवन में सार्थक रूप से अनुभव किए जाएँ। अंत में, अधिकारों की चार पीढ़ियाँ–नागरिक-राजनीतिक, सामाजिक-आर्थिक, सामूहिक और डिजिटल–एक आधुनिक समाज में मानवीय गरिमा के बढ़ते दायरे को दर्शाती हैं।

इकाई IV में खोजी गई चुनौतियों पर पुनर्विचार करके, छात्र यह समझ सकते हैं कि संवैधानिक और संस्थागत ढाँचे किस प्रकार मध्यस्थता, संरक्षण और प्रवर्तन के लिए तंत्र प्रदान करते हैं, साथ ही भारत के बहुलवादी लोकतंत्र में अधिकारों की गतिशील प्रकृति को भी पहचान सकते हैं। यह खंड चिंतनशील अधिगम को भी प्रोत्साहित करता है, जिससे छात्रों को अधिकारों का सम्मान करने वाले समाज को बढ़ावा देने में राज्य, नागरिक समाज और व्यक्तियों की निरंतर जिम्मेदारियों पर विचार करने के लिए प्रेरित किया जाता है। ऐसा करने में, इकाई इस बात की पुष्टि करती है कि मानवाधिकार एक कानूनी और सामाजिक परियोजना दोनों है, जो समानता, स्वतंत्रता, गरिमा और न्याय के सिद्धांतों को पीढ़ियों तक बनाए रखने के लिए ऐतिहासिक अंतर्दृष्टि, समकालीन वास्तविकताओं और दूरदर्शी शासन रणनीतियों को एकीकृत करती है।

**NOTES**

**NOTES**

20CUS01650